TRIPATHAGĀ

An International Refereed Research Journal

Vol. 1, No. 1 Jan.-June 2015

Editor in chief

Dr. Ranjan Kumar Tripathi
Associate Professor
Department of Sanskrit
University of Delhi
Delhi (India)
email: drrktripathi09@gmail.com

2.4

ISSN: 2395-4280

TRIPATHAGĀ

An International Refereed Research Journal

Vol. 1. No. 1 January-June 2015

Editor in Chief

Dr. Ranjan Kumar Tripathi
Associate Professor
Department of Sanskrit
University of Delhi, Delhi
Mob. 8527619593, 9415951620
email: drrktripathi09@gmail.com

Editor

Sudhanshu Chaubey
Research Scholar
B.H.U., Varanasi
Mob. 9453036047
email: sudhanshu9026@gmail.com

Published
by
Sudhanshu Chaubey

Tripathagā

(An International Refereed Research Journal)
Vol. 1, No. 1 (January-June 2015)

All correspondence should be addressed to
The Editor
Tripathagā
Banaras Hindu University
Varanasi-221005

COPYRIGHT©2015 SUDHANSHU CHAUBEY,
Faculty of SVDV, Banaras Hindu University,
Varanasi-221 005, India

Published by
Sudhanshu Chaubey, Faculty of SVDV,
Banaras Hindu University, Varanasi, India,

Printed by
Vikash Printer, Varanasi, India

Patron

Dr. Santosh Kumar Rai, Dean, Faculty of Law, Bundelkhand University, Jhansi

Dr. Shyamanand Mishra, Associate Professor, Department of Sahitya, SVDV, BHU, Varanasi

Advisory Board

Dr. Jitendra Kumar Tiwari, Assistant Professor, Dept. of Social Sciences, Bundelkhand University, Jhansi

Dr. Bhakti Putra Rohtam, Assistant Professor, Dept. of Dharmagma, SVDV, BHU, Varanasi

Dr. Shatrdughna Tripathi, Assistant Professor, Dept. of Jyotish, SVDV, BHU, Varanasi

Dr. Srikrishna Tripathi, Assistant Professor, Dept. of Vaidik Darshan, SVDV, Varanasi

Dr. Saroj Kumar Padhi, Assistant Professor, Dept. of Vaidik Darshan, SVDV, BHU, Varanasi

Dr. Venugopal, Doctor Fellow, Brown University, Providence Rhode, Island

Dr. Ramu Prashad, Associate Professor, Susedi Modern Language, Dept. of Vidyapeeth, Gandaki, Nepal

Dr. Shashikant Dwivedi, Assistant Professor, Dept. of Vaidik Darshan, SVDV, BHU, Varanasi

Dr. Rajneesh Pandey, Assistant Professor in English, Dept. of Sahitya, SVDV, BHU, Varanasi

Dr. Shanti Lal Salvi, Assistant Professor, Dept. of Sahitya, SVDV, BHU, Varanasi.

Dr. Sumit Tripathi, New Delhi

Editorial Board

Dr. Vijay Shankar Dwivedi, Assistant Professor, Dept. of Sanskrit, University of Delhi, Delhi

Dr. Awadhesh Pratap Singh, Assistant Professor, Dept. of Sanskrit, University of Delhi, Delhi

Dr. Rajiv Ranjan, Assistant Professor, Dept. of Sanskrit, University of Delhi, Delhi

Dr. Vijay Kumar Srivastava, Assistant Professor, Department of Kayachikitsa, Ayurveda, IMS, BHU, Varanasi.

Dr. Shashi Kant Tiwari, MD (Ayurveda) Sr. Resdient, Dept. of Vikriti Vigyan, BHU, Varanas

Garima, Research Scholar Kayachikitsa Ayurveda, IMS, BHU, Varanasi.

Uma Shankar Sharma, Research Scholar, SVDV, BHU, Varanasi.

Ramkeshwar Tiwari, Research Scholar, SVDV, BHU, Varanasi.

शोधपत्रों के लेखन की समस्या

शोधपत्रों के लेखन में भी वे ही समस्याएँ उत्पन्न होती हैं जो कि एक शोध में होती है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि एक शोधपत्र में उन्हीं टूल्स एवं टेक्निक का प्रयोग किया जायेगा जो कि एक शोध करने में किया जाता है। अतः हमें शोध के हर क्षेत्र का ज्ञान अवश्य होना चाहिए तथा जिस विषय में शोधपत्र लेखन का कार्य किया जा रहा है उसका समुचित अध्ययन किया जाना भी आवश्यक है, साथ ही साथ आँकड़े, तथ्यों या एम्पेरिकल रिसर्च से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण करना भी आवश्यक होता है।
शोधपत्र लेखन की कुछ समस्याएँ निम्नलिखित हैं- 1. शोध समस्या का निर्धारण 2. प्राक्कल्पना का निर्माण 3. विषयवस्तु से संबंधित सामग्री की समस्या 4. विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता की समस्या, 5. विभिन्न आँकड़ों को व्यवस्थित करने की समस्या 6. मूल्यांकन की समस्या।

उक्त समस्या का निस्तारण एक शोध के ज्ञान से हो सकता है जैसे -

1. विषय की जानकारी अच्छी हो। साथ ही हर एक शोधार्थी को यह जान लेना चाहिए कि जिस भाषा में उसकी पकड़ है वह उसी में शोध करे तो तथ्य प्राप्त करने में सुविधा होती है। यह नियम सर्वमान्य नियम हैं कि शोधार्थी जिस भाषा को जानता है, उसी में शोध करे।
2. प्राक्कल्पना का निर्माण करते समय शोध के उद्देश्यों का ध्यान रखा जाना चाहिए।
3. प्राक्कल्पना एवं उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए चैप्टर तैयार करना चाहिए।
4. अंतिम चैप्टर में निष्कर्ष, प्राक्कल्पना के सिद्ध करने एवं शोध के द्वारा प्राप्त निष्कर्ष के मूल्यांकन से उत्पन्न स्थिति का जायजा लेने के बाद अपना सुझाव देना होता है।
5. शोध में अंतिम अवस्था शोध संदर्भ की होती है कि कौन-कौन से तथ्य कहा से प्राप्त किये गये थे। परंतु स्वयं को सटीक शैली या मौलिकता के लिए संदर्भ आवश्यक नहीं है।

इस प्रकार से एक शोध का निर्माण किया जा सकता है तथा साथ ही विधि में भी किसी समस्या का हल किया जा सकता है। यथा स्थान पूर्वनिर्णय, विधिक सिद्धांतों, रूढ़ि, प्रथाओं, न्यायाधीशों के मत, विधि का औचित्य आदि को समाहित करना होता है। साथ ही साथ इसके सन्दर्भ नोट भी समाहित करना होता है।

उक्त सभी के लिए हमें शोध को समझना आवश्यक होगा तथा उसकी प्रवृत्ति, अर्थ, परिभाषा, विशेषताएँ,उद्देश्य, शोधक्षेत्र तथा उसका विकास जानना आवश्यक होगा।

* * *

इस अंक में

पृष्ठ संख्या

वेदों में वैज्ञानिक रहस्य 1–3

✍ आचार्य भक्तिपुत्र रोहतम

कालिदास के रूपकों में मानवाधिकार 4–9

✍ डॉ. शान्ति लाल सालवी

Scientific Aspect of Ancient Ayurvedic Principles 10–13

✍ Dr. Shashi Kant Tiwari

मृच्छकटिकम् में वर्णित नारी अलंकरण 14–19

✍ डॉ. रंजन कुमार त्रिपाठी एवं रूबी साहू

पर्यावरण संरक्षण में वैदिक यज्ञ की उपादेयता 20–24

✍ रामकेश्वर तिवारी

Measurement of Universe in Sanskrit Literature 25–27

✍ Raja Pathak

आचार्य चन्द्रमौलिद्विवेदिविरचितरसवसुमूर्तेः अभिधावृत्तिविमर्शः 28–34

✍ आशुतोष कुमार

साहित्यशास्त्रे चित्रालंकारानुशीलनम् 35–40

✍ ऋचा

वेदांगज्योतिषे सूर्यविमर्शः 41–44

✍ गणेश त्रिपाठी

नाट्यशास्त्र में संगीत 45–47

✍ श्वेता कुमारी

मेलापक विचार मङ्गल दोष एवं परिहार 48–59

✍ लोकेश्वर शर्मा

Environmental Quality of Water 60–66

✍ Dr. Sumita Tripathi

प्रत्यभिज्ञादर्शने ध्वनिसमूहस्य मालिनीमातृकारूपस्य क्रमद्भवस्य विवेचनम् 67–7

✍ सौरभ द्विवेदी

चरक संहिता में निदान स्थान में वर्णित रोग निदान सम्बन्धी शब्दों की व्याख्या 74–8

✍ डॉ. विजय कुमार श्रीवास्तव एवं गरिमा

अष्टाङ्ग योग विमर्श 81–8

✍ कृष्णानन्द सिंह

स्त्री रचना परम्परा में पण्डिता क्षमाराव का योगदान 89–9

✍ सपना कुमारी

यौगिक क्रियाओं द्वारा मानसिक स्वास्थ्य संवर्धन एवं चिकित्सा क्रम 93–9

✍ प्रतिभा कुमारी

वेदों में कर्मयोग का अवचिन्तन 99–1

✍ डॉ. उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी

जैन दर्शन में नय का स्वरूप 105–1

✍ जोगेन्द्र मित्र

ज्योतिष शास्त्र द्वारा नेत्र रोग विचार 110–1

✍ प्रशान्त कुमार झा

कर्म मीमांसा : मानस के परिप्रेक्ष्य में 115–1

✍ डॉ. सुषमा शुक्ला

षड्दर्शनेषु पातञ्जलदर्शने मोक्षविचारः 122–1

✍ अखिलेश कुमार मिश्र

उदयान्तरस्वरूपविमर्शः 126–1

✍ दिग्विजय पाण्डेय

शास्त्रोक्त वृष्टिविमर्श 141–1

✍ दुर्गेश कुमार शुक्ल

बौद्ध न्याय की पृष्ठभूमि 145–1

✍ प्रकाश रेग्मी

मत्स्य पुराण में प्रयाग तीर्थ 147–1

✍ संगीता देवी

वेद में मानव मूल्य की अवधारणा 150–1

✍ एकात्मदेव

वेदों में वैज्ञानिक रहस्य

डॉ. भक्तिपुत्र रोहतम
प्रस्तोता, धर्मागम विभाग
संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वेद के शतपथ व्याख्यानानुसार सूर्य से एक वृत्तपिण्ड की उत्पत्ति हुई। उस वृत्तपिण्ड का सूर्य द्वारा सौम्य शीर्ष और आसुर्य धड़ोदरात्मक दो विभाग क्रमशः चन्द्रमा और पृथ्वी हैं। इस चन्द्र एवं पृथ्वी रूप विभाग से ही पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति हुई।

वेद का शतपथ व्याख्यान

त्द्वेव खलु हतो वृत्रः, स पथा दृतिर्निष्पीतः, एवं सव्लीनः शिश्ये। यथा निर्धूतसक्तुर्भस्त्रा एवं संव्लीनः शिश्ये। तमिन्द्रोऽभ्यादुद्राव हनिष्यन्।[1]

स होवाच– मा नु मे प्रहासीः, त्वं वै तदेतर्ह्यसि– यदहम व्येव मा कृरु, मामुया भूवम् इति। स वै "मेऽन्नमेधि" इति। "तथा" इति। (इन्द्रः) तं (वृत्रं) द्वेधाऽन्वभिनत्, तस्य यत् सौम्यं न्यक्तमास–तं चन्द्रमसं चकार। अथ यदस्यासुर्यमास– तेनेमाः प्रजाः उदरेणाविध्यत्। तस्मादाहुः– वृत्र एव तर्ह्यन्नाद आसीद् वृत्र एतर्हि इति। इदं यदसौ आपूर्यते– अस्मादेवैतल्लोकादाप्यायते।

अथ यदिमाः प्रजा; अशनमिच्छन्दे– अस्या एवैतद् वृत्रायोदराय बलिं हरन्ति। स यो हैवमेतं वृतमन्नादं वेद– अन्नादो हैव भवति।[2]

"तद्वा एष एवेन्द्रो य एष तपति। अथैष एव वृत्रो यच्चन्द्रमाः।" सोऽस्यैव भ्रातृव्य जन्मेव। तस्माद यद्यपि पुरा दूरमिवोदितः, अथैवमेतां रात्रिमुपैव न्याप्लवते। सोऽस्य व्यात्तमापद्यते।।[3]

हिन्दी व्याख्या

वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु धातु से वेव शब्द बना है। तस्माद् वेव अथवा तस्य वेव तत्पुरुष समास कर तद्वेव बना है। अर्थात् उस सूर्य की विद्युत तरंगात्मक किरणों की गति तीव्रता, तेजस्विता एवं व्याप्ति से उत्पन्न प्रक्षिप्त वृत्र खलु–निश्चय ही, हतः मारा गया जैसा हुआ। वह सूर्य से अलग फेंका हुआ वृत्त जल से अलग किये हुए मत्स्य (मछली) के जैसा अन्तर्लीन मूर्च्छित के समान सोता हुआ सा था। अथवा चमड़े से ढँके हुए सत्तू के पिण्ड के समान सम्यक् रूप से अपने में लीन सोया हुआ सा था। उस वृत्त को इन्द्र (सूर्य) ने मारने की इच्छा से सब प्रकार से अपनी शक्तियों से आवृत्त कर लिया। तब उस वृत्त ने कहा– तुम निश्चय ही मुझको मत मारो। मैं इस काया से अलग न होऊँ। तब सूर्य ने कहा कि मेरे लिए अन्न–वनस्पतियाँ एवं प्राणी रूप जीवन बढ़ाओ। तब उस वृत्त ने कहा ऐसा ही हो। तब उस सूर्य रूप इन्द्र ने उसको दो अनुकूल भागों में अलग कर दिया। उसका जो सौम्य अलग किया गया था, उसको चन्द्रमा किया। अब जो इसका आसुर्य विशाल बड़ा भाग था, उस उदरात्मक भाग के द्वारा यह प्रजा भली भाँति

उत्पन्न हुई। इसलिए कहते हैं कि वृत्त ही अन्न का उत्पादन करने वाला और अन्न का भक्षण करने वाला अन्नाद हुआ। निश्चय ही यह चन्द्र एवं पृथ्वी ही वृत्त हैं। यह जो चन्द्रमा घटता है और पूर्ण होता है, इस पृथ्वी लोक के द्वारा ही होता है। चन्द्रमा का जो भाग पृथ्वी की ओर है, पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए चन्द्रमा का वह भाग सदैव पृथ्वी की ही ओर रहता है, इसलिए श्रुति ने अनुकूल दो भाग कहा है। पृथ्वी की परिक्रमा करते हुए चन्द्रमा का पृथ्वी की तरफ का भाग जितने अंश में सूर्य से प्रकाशित होने से दिखता है, उतने अंश में चन्द्रमा क्रमशः घटता और बढ़ता है। चूँकि चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी की की जा रही अनुकूल परिक्रमा के कारण ही ऐसा दर्शन होता है। इसलिए श्रुति ने कहा कि वह इस पृथ्वी लोक के द्वारा ही होता है।

''यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्।।''[4]

यह जो चन्द्रमा में कृष्णत्व है वह पृथ्वी का हृदय है।

अब यह जो प्रजाजन अशन–भोजन की इच्छा करते हैं, वह इस वृत्त रूप उदर के लिए ही अन्न लेते हैं। अर्थात् शरीरात्मक इस पृथ्वी अंश का ही पोषण करते हैं। इसलिए जो विद्वान निश्चय से वृत्तरूप पृथिव्यात्मक शरीर पोषण धर्मा उदर को ही अन्नाद जानते हैं। वे निश्चय ही अन्न का उत्पादन करने वाले और अन्न का भक्षण करने वाले अन्नाद होते हैं।

वह यह जो तपता है, यह सूर्य ही इन्द्र है। और यह जो चन्द्रमा है, यही वृत्त है। इसलिए वह इसका भ्रातृव्य जन्मा ही है। अमावस्या के पूर्व दिन यह दूर थोड़ा उदित हुआ दिखता है, किन्तु तेजी से चलता हुआ यह इस अमावस्या की रात्रि को सूर्य के किरणात्मक मुख में ही पड़ जाता है और नहीं दिखाई देता।

"सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमाः।"[5]

सुन्दर सत्कर्म के सम्पादक इस चन्द्रमा की रश्मियाँ किरणें सूर्य की ही रश्मियाँ हैं। चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।

विमर्श

चन्द्रोत्पत्ति के विषय में डारविन महोदय का सिद्धान्त भी शतपथ में व्याख्यायित इस रूप के तथ्य ही प्रस्तुत करता है। उन्होंने कहा है कि पहले चन्द्रमा पृथ्वी का ही एक भाग था। तब पृथ्वी का तापमान अति उच्च था और पिण्ड द्रवीभूत पदार्थमय था। शनैः–शनैः अक्ष भ्रमण के वेग से पिण्ड दीर्घ वृत्ताकार हो गया। सूर्य के आकर्षण से पिण्ड में अत्युच्च आप्लाव उत्पन्न हुए। उन उच्च आप्लावों के कारण सूर्य की दिशा में उस पिण्ड के शिर के समान गोल आकृति उत्पन्न हो गई और फिर आकर्षण की अधिकता के कारण यह भाग पृथ्वी से टूट कर अलग हो गया। यह अलग हुआ छोटा भाग ही चन्द्रमा है और उदर धड़ात्मक मूल भाग पृथ्वी है।

विशेष विमर्श

आख्यायिका के अनुसार पृथ्वी पर जीवनोत्पत्ति के लिए चन्द्रमा का पृथ्वी से अलग होना आवश्यक था। जहाँ पृथ्वी से चन्द्रमा का यह भाग टूट कर अलग हुआ, निश्चित रूप से पृथ्वी का वह भाग भूमध्य रेखा के समीप होगा। जीवनोत्पत्ति का प्रारम्भ भी इसी स्थल से हुआ होगा। जो

गवेषणीय है। साथ ही यह भी गवेषणीय है कि चन्द्रमा के अलग होने से किन कारणों से और किन परिवर्तनों से पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति हुई।

संदर्भः

1. शतपथ, 1/6/3/16
2. शतपथ, 1/6/3/17
3. शतपथ, 1/6/4/18
4. मन्त्र ब्राह्मण, 1/5/13
5. यजुर्वेद, 18/40

* * *

कालिदास के रूपकों में मानवाधिकार

डॉ. शान्ति लाल सालवी
सहायकप्राध्यापक
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कालिदास मूलतः आनन्द एवं ऐश्वर्य के रससिद्ध कवि है। यद्यपि कालिदास को प्रधानतः शैव मतावलम्बी ही माना गया है। तथापि भारतीय दर्शन तथा धर्म की अन्यान्य मान्यताओं के प्रति उनकी आस्था स्पष्ट भाव से दिखाई पड़ती है, जो उन जैसे राष्ट्रीय–चेता महाकवि के लिए पूर्णतः स्वाभाविक हैं। कालिदास के विचार एवं आदर्श तत्कालीन मान्यताओं के मेल में पड़ते है और उनके चित्रण द्वारा उन्होंने लोक–जीवन को संघटित तथा परिपुष्ट करने का उद्योग किया है। वस्तुतः कभी भी वहाँ भी जहाँ उनकी काव्य विपंची **"सद्यः परनिर्वृत्तये"**[1] की ध्वनियाँ निर्बाध गति से निष्क्रमित करती भासित होती है। लोक संग्रह के तत्त्व उनकी पकड़ से बाहर निकलते नहीं दिखाई पड़ते है। उनकी रचनाओं में जीवन, समाज, शिक्षा, राज्यतंत्र, नारीत्व, पुरुषत्व प्रभृति सभी विषयों से सम्बन्धित आदर्शों की अभिव्यक्ति हुई हैं।

कविवर जयशंकर प्रसाद की उक्ति मानव मूल्यों के लिए सार्थक ही द्रष्टव्य है। **"जीवन अनंत अनश्वर और गतिमान है। वह न कभी रूकता है और न कभी नष्ट होता है। अतः उसे जीना आवश्यक है, पर यह जीना इच्छा क्रिया और ज्ञान के समन्वय के साथ होना चाहिये तब ही विषमता समाप्त होगी और अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होगी।"**

इस उक्ति की सार्थकता को ठहराते हुए हम कह सकते है कि मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के विकास तथा गरिमापूर्ण जीवन की परिस्थिति बनाने के लिए अधिकारों की आवश्यकता है। ये अधिकार ही व्यक्ति की प्रगति एवं विकास की दिशा तय करते हैं तथा उसे प्रत्येक क्षेत्र में अपने को प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करते हैं।

मानव–अधिकार मस्तिष्क की अभिवृत्ति हैं जो मानव और उसकी शक्तियों मामलों लौकिक आकांक्षाओं तथा उसकी भलाई को प्राथमिक महत्त्व प्रदान करता हैं। मानव अधिकार निसर्गदत्त एवं जन्मदत्त अधिकार है। मानव–अधिकार के बिना हम जीवन किस प्रकार व्यतीत कर सकते है ? हक की प्राप्ति के साथ जीवन मूल्यों का विकास होता हैं। कालिदास धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में विश्वास करते है–

"धर्मार्थकाममोक्षाणामवतारे"[2]

मोक्ष के लिए मुक्ति, अपवर्ग, अनपायिपद, अनावृत्तिमयपद इत्यादि शब्दों को उन्होंने प्रयोग किया है। मनुष्य को कर्म का फल भोगना पड़ता है और ज्ञान से ही कर्म दग्ध होते है। कालिदास ने राजा के तीन कार्य बताये हैं– राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय सुरक्षा तथा राष्ट्र का आर्थिक समुन्नयन। कालिदास ने इसका संकेत रघुवंश महाकाव्य में दिया है यथा–

"प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि"[3]

'क्षतात्किल त्रायते' कहकर उन्होंने राजा के प्रधान धर्म, क्षति से प्रजा की रक्षा करना, को महत्त्व दिया है लेकिन आर्थिक उन्नति को भी वे कम महत्त्व का नहीं मानते। वादी प्रतिवादी के विवादों का धर्मज्ञों की सहायता से निपटारा करना वे उचित मानते हैं। वह 'एकांकी' निर्णय को दोष मानते है–

''सर्वज्ञस्थाप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय''[4]

इसलिए वे धर्मज्ञों का न्यायिक सहयोग आवश्यक समझते है। **'मालविकाग्निमित्रम्'** के पंचम अंक में **'मन्त्र परिषद'** का उल्लेख आया है जहाँ राजा वैदेशिक नीति से सम्बन्धित अपने निर्णय पर उसका अनुमोदन चाहता है। अभिज्ञानशाकुन्तल में कवि ने प्रकृति के प्रति मानवीय दृष्टिकोण को दर्शाया है। शाकुन्तल के प्रथम अंक में शकुन्तला ने वृक्षों को सहोदर कहकर पुकारा है। **''ममापि एतेषु सहोदर स्नेहः''**[5] शकुन्तला के द्वारा वृक्ष सींचन रूपी किया जाने वाला कार्य राजा दुष्यन्त की दृष्टि से अनुचित है एवं उसकी अवस्था अनुसार यह कार्य उससे करवाना बालश्रमिक जैसा है। यथा–

इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः
स्तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया
समिल्लतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।।''[6]

अनसूया शकुन्तला से कहती है कि सखि शकुन्तले तुम इन दयालु महानुभाव अथवा राजर्षि के द्वारा मुक्त कर दी गई हो। तब शकुन्तला मन ही मन अपनी स्वतन्त्रता के विषय में कहती है कि–

''नतं जनं पर्यहरिष्यम्, यद्यात्मनः प्राभविष्यम्।''[7]

यद्यपि संस्कृत रूपक संवादात्मक एवं अभिनय–प्रधान होते हैं। गद्यकाव्यों, महाकाव्यों, आदि वर्णनात्मक साहित्य की तरह इनमें किसी पर्यावरण तत्त्व के स्वरूप व गुणों के विस्तृत वर्णन का पर्याप्त अवसर नहीं मिलता, तथापि संस्कृत नाटककारों ने परस्पर (पात्रों के संवादों में) पर्यावरण के संरक्षण एवं तत्त्वों के स्वरूप के विषय में अल्पमात्र संकेतों से ही अनेक प्रकार की रोचक व तथ्यात्मक जानकारी प्रस्तुत की हैं। जिसमें नदी, पर्वत, वनस्पत्ति, जीव–जन्तु आदि पर्यावरणीय तत्त्वों में नैसर्गिक सौन्दर्य के दर्शन किए तथा उसे अपनी रचनाओं का विषय बनाकर काव्यात्मक सौन्दर्य में वृद्धि की भौतिक पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से पंचतत्त्वों के प्रति उनमें दिव्य भावना थी। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रारम्भ में नान्दी में **'या सृष्टि, स्रष्टुराद्या''**[8] कहकर जल मूर्ति का जो सर्वप्रथम उल्लेख किया है। वह जल के महत्त्व व उसकी उत्पत्ति की दृष्टि से पूर्णतया वैज्ञानिक व साभिप्राय है। वैज्ञानिक एवं साहित्यिक दृष्टि से भी जैविक पर्यावरण का सर्वप्रथम अस्तित्व जल में ही सम्भव हुआ। हमारा संस्कृत साहित्य भी 'जल को आदिसृष्टि' मानता है।

''अप एव ससर्जादो तासु बीजमवासृजत्।''[9]
''आपो वा इदमग्नेसलिलमासीत्।''[10]

अभिज्ञानशाकुन्तल के चतुर्थ अंक में स्नेह, सद्भावना, एवं आत्मीयता की तलस्पर्शी अभिव्यक्ति है। इसी में पशु–प्रेम को दर्शाया गया है–

न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्निः।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते।।[11]

महर्षि कण्व ने अपनी पुत्री शकुन्तला के प्रति अत्यधिक स्नेह प्रकट कर कन्या का मान बढ़ाया हैं। वर्तमान में कन्या–भ्रूण हत्या एक अभिशाप बनकर समाज में व्याप्त है। इस प्रकार के अनुचित कर्म पर महाकवि कालिदास द्वारा सामाजिक प्रहार हैं–

"यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया"[12]

शकुन्तला का प्रकृति के प्रति अगाधा प्रेम था वह आभूषण प्रेमी होने के कारण कभी पत्तों को तोड़ती नहीं थी। वृक्षों को जल पिलाकर स्वयं जल पीती थी। नये पत्तों के लगने पर उत्सव मनाती थी–

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्यै वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।[13]

कन्या अपने पिता के घर पर धरोहर के रूप में होती है। कवि कालिदास ने कन्या की तुलना अर्थ (धन) से की है–

"अर्थोहि कन्या परकीय एव"[14]

स्त्री सम्मान की पात्र है। राजा दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को अस्वीकार करने पर वह अपने भाग्य को कोसती हुई। हाथ उठाकर रोती है तभी अप्सरा तीर्थ पर स्त्री के समान आकार वाली तेजोमयी मूर्ति (शकुन्तला) को गोद में उठाकर गायब हो गई –

स्त्रीसंस्थानं चाप्सरस्तीर्थमारा–
दुत्क्षिप्यैनां ज्योतिरेकं जगाम।[15]

सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए कालिदास 'वर्णाश्रम' धर्म के समर्थक थे। वर्णों एवं आश्रमों की व्यवस्था भारतीय संस्कृति में समाज के जीवन को सुचारूरूपेण संचालित करने के निमित्त ही की गई थी। उसमें कर्त्तव्यों के सम्पादन को महत्त्व दिया गया था। ब्राह्मण त्याग–तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे और इहलोक एवं परलोक के सत्यो की शिक्षा समाज को देते थे। क्षत्रियों को दानशील, दुष्टदलन तथा पीड़ितों की रक्षा करने वाला बताया गया है–

"क्षत्रात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषुरुढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरूपक्रोशमलीमसैर्वा।।[16]

शाकुन्तला में वैश्यों को "समुद्र व्यवहारी" कहा गया है। जो राष्ट्र की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए समुद्रों पर भ्रमण कर अन्य देशों से वाणिज्य व्यवसाय किया करते थे। शुद्रों को भी अपने ढंग से राष्ट्रसेवा करते दिखाया गया है और वे अपनी परम्परागत वृत्ति एवं विद्या पर गर्व करते चित्रित हुए हैं। शाकुन्तल में धीवर ने कहा है कि सहज ही विनिन्द्य कर्म भी यदि वंशानुगत है, त्याज्य नहीं है–

''सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।''[17]

वस्तुतः कालिदास ने सभी वर्णो के पूर्णमेल एवं सद्भाव के साथ परस्पर कर्त्तव्य सम्पादन तथा राष्ट्र समृद्धि में सहायक होने पर बल दिया है। शिक्षा के अधिकार के सम्बन्ध में कालिदास के अपने विचार हैं। **''शिक्षक वही सर्वश्रेष्ठ है जिसमें विद्या तथा शिक्षण की योग्यता दोनों ही है।''[18]** सच्ची शिक्षा की कसौटी यह है कि जैसे अग्नि में डालने से सोना काला नहीं पड़ता, वैसे ही यह परीक्षा काल में मन्द नहीं होती–

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामाय ते न युष्मासु यः कांचनमिवाग्निषु।।[19]

कालिदास नारियों की शिक्षा के समर्थक है। उनकी सभी नायिकाएँ शिक्षित तथा परिष्कृत चित्तवाली है। आश्रम में पली हुई शकुन्तला भी शिक्षित है तथा उसमें व्यक्तित्व एवं चरित्र के सभी गुण वर्तमान है। मदनलेख लिखकर, उसने अपनी कला–कविता–विषयक पटुता का प्रमाण दिया है, और दुष्यन्त के तिरस्कार पर उसने जो उसे डाट फटकार लगाई है, उससे उसके चरित्र की दृढ़ता की विज्ञप्ति होती है। कवि का नारियों के प्रति दूसरा पक्ष यह कहता है कि स्त्री के ऊपर पुरुष का सर्वाधिकार है। शार्गरव की दुष्यन्त के प्रति उक्ति–

तदेषा भवतः पत्नी त्यज वैनां गृहाण वा।
उपयुन्तु हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।।[20]

पतिव्रता होने के साथ ही, स्त्रियों को सासुओं के प्रति श्रद्धालु होना चाहिए और सासुओं को भी ऐसी पुत्रवधुओं के प्रति प्यार एवं सम्मान का दान देना चाहिए। शकुन्तला को कण्व ने विदाई के अवसर पर जो उपदेश दिया है। उसमें भारतीय लोकदर्श की सटीक अभिव्यक्ति हुई है। कण्व कहते है–

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।[21]

कालिदास ने 'गृहिणी' शब्द का बार–बार प्रयोग किया है और उसे सौभाग्यवती तथा सुलक्षण स्त्री जाती की प्रतीक चित्रित किया है। इस प्रकार कवि ने स्त्री को आदर्श नारी बताकर स्त्री के सम्मान को प्रकट किया है। 'मालविकाग्निमित्रम में पारिव्राजिका ने रानी धारिणी से कहा है कि सपत्नियाँ पतियों पर सम्पूर्ण अधिकार रखती है और उचित कारणों से उन पर कोप भी कर सकती है–

''प्रभवन्त्योऽपि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः''[22]

कालिदास ने स्त्री–पुरुष समानता को उचित ठहराते हुए कहा है कि नारी की 'श्रद्धा' पुरुष की 'क्रिया' से संयुक्त होकर जब पुत्ररूपी 'धन' की सृष्टि करती हैं, तभी स्त्री–पुरुष दोनों का जीवन धन्य होता है। कालिदास का लौकिक जीवन के लिए गृहस्थों को यही उपदेश हैं। शाकुन्तल में महर्षि मारीच का कथन–

दिष्ट्या शकुन्तला साध्वी सदपत्यमिदं भवान्।
श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत्समागतम्।।[23]

जहाँ महर्षि कण्व ने शकुन्तला को सपत्नीजनों के साथ सखी वृत्ति व्यवहार हेतु सन्देश दिया है वही विक्रमोर्वशीय में भी उर्वशी के हृदय में अपनी सोतिया डाह स्वपत्नी के प्रति ईर्ष्या नहीं

थी। कालिदास स्वतन्त्र अभिव्यक्ति एवं पत्र–व्यवहार को उचित मानते थे। विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी भोज पत्र पर आत्मनिवेदन लिख कर राजा के पास फेंक कर चली जाती है।

तत् प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण लेखं सम्पाद्यान्तरा क्षेप्तुमिच्छामि।[24]

शकुन्तला भी राजा दुष्यन्त के वियोग में नलिनी के पत्र पर अपने नाखुनों से प्रणय–पत्र लिखकर अपनी मनोदशा का वर्णन कर रही है।

तव न जांने हृदयं मम पुनः कामो दिवापि रात्रावपि
निर्घृण तपति बलीयस्त्वयि वृत्तमनोरथान्यङ्गानि।।[25]

वस्तुतः कालिदास के तीनों नाटकों मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे समाज के लिए आदर्श थे धर्म एवं कर्तव्य की परम पराकाष्ठा सम्पन्न है। वे मानव को मिलने वाले स्वतन्त्रता समानता, विचार अभिव्यक्ति, वर्ण समानता, व्यापार की स्वतन्त्रता इत्यादि कई अधिकारों के पक्षधर थे। कालिदास चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में विश्वास करते थे। कर्मवाद में उनकी आस्था थी–

''फलानुमेयाः प्रारम्भा संस्काराः प्राक्तना इव''[26]

जीवन में कवि आत्मसंयम तथा आत्मबुद्धि पर बल देते थे। वे शान्तिवादी थे। शाकुन्तल में तपस्वियों की महिमा का जो कथन किया गया है। वह सराहनीय है–

'शमप्रधानेषु तपोवनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्तास्तदन्यतेजोऽभिभवाद्वमन्ति।।[27]

कालिदास संस्कृत के और भारतीय संस्कृति के महान् एवं अमर कवि है। उनका यशः शरीर आज भी अमर ही है–

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा : कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।[28]

।। इत्यल्लम्पल्लवितेन्इतिदिक।।

संदर्भ

1 काव्यप्रकाश – 1/2
2 रघुवंशमहाकाव्य –भूमिका
3 रघुवंशमहाकाव्य – 1/24
4 मालविकाग्निमित्रम् – 1/1
5 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 1/17 का (गद्य)
6 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 1/18
7 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 1/32 का (गद्य)
8 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 1/1
9 मनुस्मृति – 1/8
10 शतपथ ब्राह्मण – 11/1/ 6/1
11 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 1/8
12 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 4/6

13 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 4/9
14 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 4/22
15 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 5/30
16 रघुवंश महाकाव्य – 2/53
17 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 6/1
18 मालविकाग्निमित्रम् – 1/16
19 मालविकाग्निमित्रम् – 2/9
20 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 5/26
21 अभिज्ञानशाकुन्तलम – 4/18
22 मालविकाग्निमित्रम् – 1/18
23 अभिज्ञानशाकुन्तल – 7/29
24 विक्रमोर्वशीयम् – 2/11 का (गद्य)
25 अभिज्ञानशाकुन्तल – 3/13
26 रघुवंशमहाकाव्य – 1/20
27 अभिज्ञानशाकुन्तलम् – 2/7
28 नीतिशतकम– 24

*****

SCIENTIFIC ASPECT OF ANCIENT AYURVEDIC PRINCIPLES

Dr. Shashi Kant Tiwari
Senior Resident & Ph.D. Scholar
Vikriti Vigyan Faculty of Ayurveda
IMS BHU Varanas-221005i

Ancient Indian texts are fully scientific and time tested, but it needs to be re-explored by scientific tools. This is because, science is objective and it would help in explaining the facts to the younger generation and other stake holders.

The western countries are always attracted towards Indian medicine. The colonists, travellers, traders from the whole world, who visited India, utilised the natural wealth of India for business and making wealth, especially through trading the spices, natural herbs and agriculture products. They have included their aspect in their autobiography and books. The British pharmacopeia has also included many medicinal plants of Indian origin, but unfortunately due credit has not given to our knowledge. These western people utilises the Indian knowledge, made some modification and published it as their own finding. Since they had better communication skill with other part of the world and also had better scientific tools, so they could succeed in propagating our knowledge as their own invention.

The same practice again started in era of intellectual property right patenting. They again tried to patent the natural herbs like *Neem*, *Haldi*, *Rise* but because of our alertness they could not do so. In result to that we digitalised our knowledge of medicinal plants as TKDL, so that it could reach to each corner of the world in their language. As the invention of 0 (zero) in the mathematics is highly important and it was given by Indian saint. Similarly concept of *tridosh* is also important for health sciences. It depicts the constitution of a person, aetiology of the disease and also method to choose drugs for the management of disease. The whole world could not appreciate this concept earlier than the human genome mapping. After this invention, the world is approaching towards customising medicine. Interestingly, *Ayurveda* had this concept as early as Indian civilisation. In *Ayurveda*, there is assessment of disease and also the patient, before prescribing the medicine. They have consider the behaviour habit, genomic constitution, life style and mental thoughts of an individual as factor for influence of the prescribe drugs. This is now consider as short drug interaction as a new branch of medical science and pharmacy.

This old concept is also now being accepted by modern medicine in the light of "genetic diversity" in relation of drug metabolism. Now they are considering pharmacodynamics, pharmacokinetics and bioavailability of each drug to each individual. This is new concept in the medicine, but it is not linked to traditional concept of *Tridosh* of *Ayurveda.* This is unfortunate and the Indian scientists should do something as we did in case of IPR patenting for *Haldi* and *Neem*.

Although demand of natural products is continuously increasing worldwide, because of its eco-friendly nature and lesser side effect, but the consumers are not fully confident about associated side effect and their mechanism of action. Many of the users are generally concern about the purity of the drug, adulteration, contamination with heavy metals, pathogenic microorganisms and residual of pesticide and insecticide and then associated toxicity. The doctors are more concern about the changed pharmacokinetics and bio-availability of allopathic medicine, when these drugs are co-administered with herbal drugs.

Ayurveda is thought to be originated from *Rig Veda,* one of the oldest philosophical texts of the world (about 6000 years old). According to *Charak Samhita* (1.46-47), life is the outcome of equilibrium between body, mind and soul, which are like a tripod for a living entity. *Ayurveda* is a holistic healing science, which comprises of two words, *Ayu and veda.* The *ayu* means life and *veda* means knowledge or science. So, the literal meaning of the word Ayurveda is the science of life. Life is the combination (*samyoga*) of body, senses, mind and reincarnating soul, (*Charak Samhita, Sutrasthana, 1.42-43*). It is a science dealing not only with the treatment of disease, but deals with complete way of life. Its main object is to maintain the health of a healthy person, to prevent the onset of disease and also to treat the disease.

The basic concept of *Ayurveda* consists of *tri-dosh* theory. In *Ayurveda*, there are three *dhatus (vata, pitta, kapha)* at somatic level and three *dhatus* at mental level (*satwa, raja*, *tama*). If these factors are disturbed or get imbalanced, then there is manifestation of disease. Based on these *dhatus/doshas*, all the disease has been classified into three major groups. Combination of imbalance of more than one *doshas* has been further sub classified into three major groups of diseases. In my view, the metabolic diseases which are manifested with ageing are related to high grade inflammation and free radical stress in body. So they may be grouped as *vatic* disorder and may be treated by those drugs and lifestyle changes, which are supposed to suppress excessive *vata* in the body (*vata shamak dravyas*).

Now genome mapping is in practice to predict the constitution of an individual, before prescribing a dose of a medicine to an individual (patient healthy/constitution assessment or *rogi parikshan*), but in Ayurveda this was already in practice. They considered patient and disease in totality. They adopted different ways to predict the constitution. It was based on questioning of habits, anatomical and physiological characteristics. For example, a person with thin build and small-boned and prominence joints; dry chaps; easily rough, cool skin; prominent veins; coarse and dry hair, lean and thin body weight is considered as of *vata* predominant constitution and accordingly prescription is customised.

The *Ayurvedic* scholars have established methods of *dashvidh parikshan* (10 fold examination) and *asthwidh parikshan* (8 fold examination) for rogi and rog *parikshan*, which are highly scientific and must be correlated with those modern scientific tools, which are involved in diagnosis of disease. The *dashvidh pariksha* (10 fold experiment) can be compared with psychosomatic, disease susceptibility, quality of different tissues (7 *dhatus* in terms of radiological, biochemical, and histological (biopsy) assessment), body compactness anthropometry, mental status, digestive power, physical endurance (stamina), and degree of ageing. Similarly *asthwidh* (8 fold examination) can be correlated with pulse rate physical, biochemical and microscopic analysis of urine, stool, examination of tongue (*saliva* test), auscultation methods, respiratory, cardiac and bowel sounds, physical examination of skin and visual appearance of each organ and system.

In fact, the verses of *rig veda*, consider five elements as basic components for life. The same is true with *Ayurveda* also. These components include (1) space, (2) air, (3) earth, (4) fire, (5) water, (although *sankhya* theory of life (an Indian philosophy), considered 24 basic elements, responsible for existence of life). These 5 basic elements come together to create three different types of *doshas*/constitutions i.e. *vata, pitta, kapha* in human and 5 *rasa* in medicinal plants, cereals and vegetables. The theory of similarity predicts the use of particular medicinal plant/diet. Regarding constitution, it is stated that if air and space is predominant in a person then that person is of *vata* constitution. Similarly, if water and earth are predominant, then one gets *kapha* constitution and if fire and water are predominant then one acquires *pitta* constitution. Now this concept of constitution is gaining support from human genome mapping, which encourages the concepts of customised prescription, as it was already there in *Ayurveda*.

Regarding research methodology, *Ayurveda* had very objective parameters for gathering knowledge and its development. They adopted evidence *pramans* through direct perception (*pratyaksha*), *anuman* (logical inferences), *aptadosha* (documentary testimony) and *yukti* (experimental evidences). The modern research methodology includes observation of natural phenomenon, concerned literature survey, designing of experiments data collection and its analysis, discussion with earlier knowledge and finally postulation of principle. Now we are considering ethical issues for any experimental study or clinical trial, but in *Ayurveda* this aspect has already been included in *rogi parikshan*, as described earlier. Here host defence mechanism for drug action has been given great importance, which is lacking in modern trial, because of too much variables. It creates problem, while analyzing the data.

Now I shall discuss about pharmaceuticals used in *Ayurveda*. The ancient literature of *Ayurveda* has clearly mentioned about the purity, shelf life and efficacy of herbal preparations. They have mentioned about seasons for collection and also the proper site for collection of medicinal plants. Now we are concerned about heavy metal contamination due to pollution in water and soil and also due to processing steps. The variability in efficacy of same herbal preparation depends upon the quality of raw materials in terms of maturity at the time of collection. Several scientific reports are available which indicate the variability in the concentration of the particular secondary metabolite, known as active principle in relation to maturity of plant at the time of its collection. Thus drug collectors must be trained in this regard. They must be educated about the time and method of collection to have better efficacy and least damage to biodiversity.

Regarding variety of preparations, the ancient scholars had thought of thermo-labile/ thermo-stable constituents and solubility aspects. They have mentioned about fresh juices and water decoctions for various preparations. They also mention that processing step (*sanskara*) change the property of a given medicinal plant. The processing of plants by heating in oil, milk, water or decoction of different medicinal plants changes their properties and efficacy. Making fermented preparations *(aswa/arista)* and use of *bhasmas* (metallic preparation) and also combination of drugs are of some important aspects to enhance efficacy of herbal medicines.

Although these practices are in use since centuries, but these aspects are still unexplored by modern science and need attention. Logical explanations such as (1) mixing of plants enhance the bioavailability of active principle through enhanced lamentation (release of active principles of one plant in presence of other plant extract), (2) use of bhasmas with herbal medicine is correlated with nano-particles, which again enhance the entry of plants secondary metabolite more rapidly, with the help of small particles in bhasmas (metallic preparation). Although concept of nanomedicine is being correlated with bhasmas by several Ayurvedic scholars, but still more studies are needed to establish this correlation through rigorous science and with objective parameters.

Thus it could be concluded that *Ayurvedic* practises were highly scientific and reproducible. New language of science and technology may be given to explain these facts to the modern society. It is like filling the old wine in a new bottle, but it is important for sustainable development of *Ayurveda*.

References

1. Charak Samhita/Agnivesh Tantra (200AD/600BC) edited by Sharma PV, Chaukhamba orientalia, Varanasi.
2. Sushruta Samhita edited by Vaidya Jadavji Trikamji Acharya, reprint ed. Varanasi: chaukhamba surabharati prakashana; Varanasi.

*****

मृच्छकटिकम् में वर्णित नारी अलंकरण

डॉ0 रंजन कुमार त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

रूबी साहू
शोध छात्रा, साहित्य विभाग,
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान, संकाय,
का0हि0वि0वि0, वाराणसी।

सौन्दर्य के प्रति मानव का आकर्षण स्वाभाविक है, वह आपने आस–पास के समस्त परिवेश को सौन्दर्यपूर्ण देखना चाहता है। यह अनुभवसिद्ध है कि सौन्दर्यपूर्ण वस्तु प्रत्येक व्यक्ति के मन को आनन्दित व प्रफुल्लित करती है। सौन्दर्य को आनन्द के स्रोत के रूप में पहचान कर ही मनुष्य अपने परिवेश के साथ–साथ स्वयं को भी सुन्दर बनाने के लिए सजग रहा है तथा साथ ही स्वय के सौन्दर्य को बढ़ाने हेतु धीरे–धीरे विभिन्न प्रकार के अलंकारों का प्रयोग करने लगा। मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही मनुष्य किसी न किसी प्रकार के अलंकारों से स्वयं को अलंकृत करता रह है और संभवतः अलंकारों के निर्माण से लेकर उसके परिष्कृत एवं परिवर्धित रूप को सामने लाने मे भी मनुष्य की यही प्रवृत्ति कारण रही होगी। अलंकारों का प्रयोग संस्कृति का वह पक्ष है जह मनुष्य में जातिगत, धर्मगत, क्षेत्रगत आदि भेद दृष्टिगोचर होते हैं। विश्व के सभी देशों, जातियों एव सभ्यताओं में अलंकारों को धारण करने की परम्परा पहले से ही रही है, किन्तु प्रत्येक देश, जाति एवं सभ्यता के अलंकारों की कुछ निजी विशेषताएं होती है, जो किसी भी अन्य सभ्यता से उसकी भिन्नता को प्रकट करती हैं, क्योंकि उनके धारण करने के तरीके और नाम में भिन्नता होती है। अलंकार शिख से नख तक धारण किए जाते हैं। अलंकारों के निर्माण के समय परिस्थिति, रुचि तथा आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति को विशेष रूप से ध्यान में रखा जाता है। काल व क्षेत्र के अनुसार अलंकारों के निर्माण के माध्यम बदलते रहे हैं, जिसमें प्रकृति प्रदत्त फूल, पत्ती, पशुओं के सींग व हड्डी, पक्षियों के रंग–बिरंगे पंख विभिन्न प्रकार की बहुमूल्य धातुओं तथा अनेक बहुमूल्य रत्नों का प्रयोग मिलता रहा है। अलंकारों को धारण करने की एक सुव्यस्थित परम्परा सदियों से चली आ रही है, जिसका प्रमाण संस्कृत ग्रन्थों में देखा जा सकता हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र मे आहार्याभिनय के अन्तर्गत अलंकारों का विस्तृत एवं स्पष्ट वर्णन किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। सामाजिक जीवन में स्त्री पुरूष अपनी इच्छा के अनुरूप काई भी अलंकार धारण कर सकते हैं, किन्तु नाट्य में पात्र जिस चरित्र का अभिनय कर रहे होते हैं उसी के अनुरूप अलंकार धारण करते हैं। नाट्यशास्त्र में विशद रूप से यह वर्णन प्राप्त होता है कि स्त्रियाँ किस प्रकार के अलंकार धारण करें तथा पुरुष किस प्रकार के। इनमें भी देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं सर्प आदि द्वारा धारण किए जाने वाले अलंकारों का भी वर्णन किया गया है। किस स्थान की स्त्रियाँ किस प्रकार के अलंकारों को धारण करें तथा किस प्रकार का केशविन्यास करें इसका भी निर्देश दिया गया है। संस्कृत साहित्य में कवियों ने विभिन्न चरित्रों के अनुरूप भिन्न–भिन्न अलंकारों का प्रयोग किया है। एक ओर जहाँ अभिज्ञानशाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला आश्रम कन्या होने के कारण फूल–पत्ती से बने हुए अलंकारों को धारण करती है वहीं दूसरी ओर मृच्छटिकम् की नायिका वसन्तसेना विभिन्न बहुमूल्य रत्नों द्वारा बने हुए आभूषणों का धारण करती है। नाट्यशास्त्र मे आचार्य भरतमुनि ने अलंकारों को आवेध्य, बन्धनीय प्रक्षेप्य एवं आरोप्य, इन चार वर्गों में विभाजित किया है–

''चतुर्विधं तु विज्ञेयं नाट्ये ह्याभरणं बुधैः।
आवेध्यं बन्धनीयं च क्षेप्यमारोप्यमेव च।।
आवेध्यं कुण्डलादीह यत्स्याच्छ्रवणभूशणम्।
आरोप्यं हेमसूत्रादि हाराश्च विविधाश्रयाः।।
श्रोणीसूत्राङ्गदामुक्ताबन्धनीयानि सर्वदा।
प्रक्षेप्यं नूपुरं विद्याद्वस्त्राभरणमेव च।।[1]

1. **आवेध्य**– शरीर को बींधकर अर्थात् छेदकर धारण किए जाने वाले अलंकार आवेध्य कहे गए हैं, यथा–कुण्डल आदि।
2. **बन्धनीय**– अङ्गो में बाँधकर प्रयोग किए जाने वाले अलंकार बन्धनीय कहे गए हैं, यथा–केयूर, मेखला इत्यादि।
3. **प्रक्षेप्य**– जो शरीर पर रख लिए जाएँ वे अलंकार प्रक्षेप्य कहे गए हैं, यथा–अगूंठी, नूपुर इत्यादि।
4. **आरोप्य**– जो अलंकार शरीर पर आरोपित कर लिए जाएँ वे आरोप्य कहे गए हैं, यथा–रत्नावली आदि।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने गणिकाओं के लिए अलंकारों के प्रयोग का कोई विशेष नियम निर्धारित नहीं किया है। कवि अपनी इच्छानुसार गणिकाओं को विभिन्न प्रकार के अलंकारों से अलंकृत कर सकता है।[2] मृच्छकटिकम में आचार्य भरतमुनि द्वारा विभाजित किए गए लगभग सभी वर्गों के अलंकारों का प्रयोग किया गया है, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार दिया जा सकता है–

कुण्डल

महाकवि शूद्रक ने शकार द्वारा पीछा किए जाने पर भागती हुई बसंतसेना का वर्णन करने के क्रम में उसके द्वारा अनेक अलंकारों को धारण करने का उल्लेख किया है।[3] इस क्रम में महाकवि ने उसके द्वारा धारण किए गए कुण्डलों के घर्षण से युक्त कपोलों की तुलना विटों के नख से घर्षित वीणा से की है–

''प्रसरसि भवविक्लवा किमर्थं प्रचलित कुण्डलघृश्टगण्डपार्श्वा।
विटजननखघट्टितेव वीणा जलधर गर्जितभीतसारसीव।।''[4]

अलंकारों के विभाजन क्रम में भरतमुनि ने इसे आवेध्य अलंकारों के अन्तर्गत माना है क्योंकि यह कर्ण को बींधकर धारण किया जाता है। इस अलंकार को स्त्री तथा पुरुष दोनों ही धारण कर सकते हैं। भरतमुनि ने कर्णिका, कर्णवलय, पत्रकर्णिका आदि कर्णाभूषणों के अन्तर्गत कुण्डल की भी गणना की है–

''कर्णिका कर्णवलयं तथा स्यात्पत्रकर्णिका।
कुण्डलं कर्णमुद्रा च कर्णोत्कीलकमेव च।।

नानारत्नविचित्राणि दन्तपत्राणि चैव हि।
कर्णयोर्भूशणं ह्येतत्कर्णपूरस्तथैव च।।"[5]

माल्य

शकार के द्वारा पीछा किए जाने पर भागती हुई बसंतसेना द्वारा सुगन्धित पुष्पों की माल धारण किए जाने का भी संकेत प्राप्त होता है, क्योंकि बसंतेना के प्रति विट का कथन है कि रात्रि में अंधकारवश तुम भले दिखाई न दो किन्तु तुम्हारी माला से उत्पन्न होने वाली गंध तुम्हें सूचित कर देगी।

"कामं प्रदोशतिमिरेण दृश्यसे त्वं
सौदामिनीव जलदोदरसन्धिलीना।
त्वां सूचयिश्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं
गन्धश्च भीरू मुखराणि च नूपुराणि।।"[6]

इसके अतिरिक्त जब शकार वसंतसेना के स्थान पर रदनिका को बसंतसेना समझकर पकड़ लेता है तब वह भी कहता है कि माला की गन्ध से सूचित बसंतसेना को मैंने केशों से पकड़ लिया है।[7] यद्यपि रदनिका ने माला धारण नहीं की थी तथापि शकार कहता है कि माला की गंध से सूचित होने के कारण उसने बसंतसेना को पकड़ा है क्योंकि बसंतसेना ने अपनी माला उतारकर वहीं फेंककर चारूदत्त के घर में प्रवेश किया था।[8] अतः उस माला की सुगन्ध उस स्थान पर फैली हुई थी जहाँ शकार ने रदनिका को पकड़ा था। इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि माल्य पुष्पों द्वारा निर्मित अलंकार है। कोशकारों ने भी माल्य का अर्थ पुष्पों द्वारा निर्मित हाकर विशेष किया है। भरतमुनि द्वारा किए गए विभाजन में माल्य की गणना आरोप्य अलंकारों के अंतर्गत की जानी चाहिए, क्योंकि भरतमुनि ने पुष्पों द्वारा निर्मित मालाओं को शरीर का आभूषण स्वीकार किया है–

"व्यालम्बमौक्तिको हारो माला चैवाङ्गभूषणम्।
तरलं सूत्रकं चैव भवेत्कटिविभूषणम्।।"[10]

रत्नावली

महाकवि शूद्रक ने अनेक स्थलों पर इस अलंकार की चर्चा की है। इसके लिए कवि ने रत्नावली[11], रत्नमालिका[12], हार[13] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह अलंकार बहुमूल्य रत्नों द्वारा निर्मित कहा जा सकता है क्योंकि इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि रत्नों की पंक्ति या रत्नो की माला। इसके अतिरिक्त बसंतसेना द्वारा चारूदत्त के घर में धरोहर के रूप में रखे गए आभूषणो के चोरी हो जाने पर चारूदत्त की पत्नी अपनी रत्नावली को उन आभूषणों के बदले विदूषक के माध्यम से बसंतसेना के पास भेजती है।[14] भरतमुनि द्वारा किए गए अलंकार विभाजन में इसे आरोप्य अलंकारों के अन्तर्गत माना जा सकता है। यह अलंकार कण्ठ पर धारण करने योग्य है क्योंकि जब बसंतसेना धूता के पास चेटी के हाथों रत्नावली वापस भेजती है तो कहती है कि मैं तो चारूदत्त के गुणों के वशीभूत दासी हूँ, अतः आपकी भी दासी हूँ। तो यह रत्नावली आपके ही कण्ठ का आभूषण होवे। आचार्य भरतमुनि ने भी रत्नावली, रत्नमालिका आदि को कण्ठ का आभूषण स्वीकार किया है–

"मुक्तावली व्यालपङ्क्तिर्मञ्जरी रत्नमालिका।
रत्नावली सूत्रकं च ज्ञेयं कण्ठविभूषणम्।
द्विसरस्त्रिसरश्चैव चतुस्सरकमेव च।।
तथा श्रृङ्खलिका चैव भवेत्कण्ठविभूषणम्।।[16]

वलय

महाकवि ने द्वितीय अंक में इस अलंकार की चर्चा की है–

''विचलति नूपुरयंगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः।
वलयाश्च सुन्दरतरा रतनाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः।।[18]

कोशकारों ने वलय का अर्थ कंकण, बाजूबंद[18] इत्यादि किया है। यद्यपि कुछ टीकाकारों ने वलय का अर्थ कटक भी किया है[19], किन्तु भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कटक तथा वलय को भिन्न–भिन्न मानते हुए कटक को अंगुलि का किन्तु वलय को भुजा का अंलकार स्वीकार किया है–

''अङ्गदं वलंय चैव बाहुमूलविभूषणम्।।''[20]

कटक

द्वितीय अंक में बसन्तसेना द्वारा अपने हाथ से कटक उतारकर चेटी को दिए जाने का प्रसंग प्राप्त होता है।[21] महाकवि ने अन्य स्थलों पर भी कटक के लिए हस्ताभरणं[22] हास्ताभूषणं आदि शब्दों का प्रयोग किया है। टीकाकारों ने कटक तथा वलय दोनों को पर्याय मानकर दोनों का अर्थ कङ्कन कर दिया है[23], किन्तु नाट्यशास्त्र में वर्णित अलंकार विवेचन के अनुसार दोनों भिन्न–भिन्न प्रतीत होते हैं क्योंकि भरतमुनि ने कटक को अङ्गलियों का आभूषण माना है–

''कलापी कटकं शङ्खों हस्तपत्रं सपूरकम्।।
मुद्राङ्गलीयकं चैव ह्यङ्गलीनां विभूषणम्।।[24]

रशना, कलाप, मेखला

महाकवि ने कटि–प्रान्त में धारण किए जाने वाले रशना, कलाप, मेखला आदि अलंकारों का बसन्तसेना द्वारा धारण किए जाने का वर्णन किया है। महाकवि ने बसन्तसेना के कटि प्राप्त में बंधी हुई रशना को तारों के समान विचित्र और सुन्दर कहा है–

''किं त्वं कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती
ताराविचित्ररूचिरं रशनाकलापम्।
वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन
त्रस्तादभुतं नगरदैवतवत्प्रयासि।।''[25]

कवि ने यहाँ रशना तथा कलाप दोनों का प्रयोग सम्मिलित रूप से किया है, जिससे टीकाकारों ने भी दोनों को समस्त पद मानकर दोनों का अर्थ सम्मिलित रूप में मेखलाभूषण कर दिया है[26], किन्तु भरतमुनि ने रशना तथा कलाप में कुछ भेद किया है जिसके अनुसार रशना सोलह लड़वाली और कलाप पचीस लड़वाली होती है।[27] इसके अतिरिक्त कटि–प्रान्त के अलंकार के रूप में महाकवि ने मेखला का भी वर्णन किया है।[28] कोशकारों ने रशना, कलाप तथा मेखला तीनों ही शब्दों का अर्थ करधनी किया है[29] तथा 'रशनाकला' इस समस्त पद का अर्थ घुँघरूदार मेखला[30] किया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः कवि ने भी घूँघरूदार मेखला अर्थ प्रकट करने के लिए रशनाकलाप पद का प्रयोग किया है, क्योंकि कवि ने इसके टूटने का वर्णन किया है।[31] भरतमुनि द्वारा किए गए वर्गीकरण के अनुसार ये बंधनीय अलंकारों के अंतर्गत गणनीय हैं, क्योंकि इन्हें कटि–प्रान्त मे बांध लिया जाता है। भरतमुनि ने रशना, कलाप तथा मेखला में थोड़ा

सा भेद किया है जिसके अनुसार रशना सोलह लड़वाली कलाप पचीस लड़वाली तथा मेखला आ लड़वाली होती है।

> "मुक्ताजालाढ्यतलकं मेखला काञ्चिकापि वा।।
> रशना च कलापश्च भवेच्छ्रोणीविभूषणम्।।
> एकयष्टिर्भवेत्कांची मेखला त्वष्टयष्टिका।।
> द्विरष्टयष्टो रशना कलापः पंचविंशकः।[32]

नूपुर

मृच्छकटिक में अनेक स्थलों पर इस अलंकार का वर्णन किया गया है, जिससे ज्ञात होत है कि यह एक विशेष शब्द करने वाला[33] तथा पैर में धारण करने वाला आभूषण है, क्योंवि महाकवि ने नूपुर में लगे हुए कीचड़ को धारण करने वाले पैरों को धोती हुई बसन्तसेना का वर्ण किया है–

> 'एष फुल्लकदम्बनीपसुरभौ काले घनोद्भासिते
> कान्तस्यालयमागतां समदना हृष्टा जलार्द्रालका।
> विद्युद्वारिदगर्जितैः सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी
> पादौ नूपुरलग्नकद्रमधरौ प्रक्षालयन्ती स्थिता।।"[34]

भरतमुनि द्वारा किए गए वर्गीकरण के अनुसार यह प्रक्षेप्य नामक अलंकार है। यह शब् करने वाला तथा गुल्फ के ऊपर धारण करने वाला अलंकार है–

> "नूपुरः किंकिणीकाश्च घण्टिका रत्नजालकम्।।
> सघोषे कटके चैव गुल्फोपरिविभूषणम्।"[35]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अलंकार स्त्रियों के सौन्दर्य–वृद्धि के साथ–साथ किर्स भी देश की सांस्कृतिक परिस्थिति, सामाजिक स्थिति, देशकाल आदि के विषय में जानने का एव सबल माध्यम है। आचार्य भामह ने काव्यालंकार में स्त्रियों के अलंकारों के महत्त्व को प्रतिपादि करते हुए कहा है कि बिना अलंकार के स्त्री का सुन्दर मुख भी सुशोभित नहीं होता –

> "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।"

कवियों द्वारा नाट्य में पात्रों के अनुरूप अलंकारों का प्रयोग उसमें और अधिक चमत्का उत्पन्न करने का माध्यम कहा जा सकता है, क्योंकि इससे पात्रों की प्रकृति तथा स्थिति में भिन्नत प्रकट होती है और दर्शकों में समुचित रूप से भाव का संचार करने में सहायता प्राप्त होती है बसन्तसेना द्वारा विभिन्न बहुमूल्य आभूषणों का धारण किया जाना उसके वैभव को प्रकट करत हुआ सा प्रतीत होता है तथा तत्कालीन परिस्थितियों को सूचित करने में भी सहायक कहा ज सकता है। स्त्रियों द्वारा धारण किए जाने वाले अलंकारों का जितना स्पष्ट एवं विशद् विभाज नाट्यशास्त्र में किया गया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जिस प्रकार भरतमुनि ने अलंकारों का विभाज किया है। वह वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी उपयुक्त प्रतीत होता है।

संदर्भ

1. नाट्यशास्त्र, 21/12–14
2. "गणिकानां तु कर्त्तव्यमिच्छाविच्छित्ति मण्डनम्।" नाट्यशास्त्र, 21/71
3. "झणज्झणद् बहुभूषणशब्दमिश्रं............... । मृच्छकटिक, 1/25
4. मृच्छकटिक, 1/24
5. नाट्यशास्त्र, 21/25–26
6. मृच्छकटिक, 1/35
7. मृच्छकटिक, 1/39
8. मृच्छकटिक, 1/35 के पश्चात्
9. संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ0 857
10. नाट्यशास्त्र, 21/20
11. मृच्छकटिक, 3/26 के पश्चात
12. वही
13. मृच्छकटिक, 4/33 के पश्चात्
14. मृच्छकटिक, 3/26–30
15. "अहं श्रीचारूदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि।
    तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली। " मृच्छकटिक, 6
16. नाट्यशास्त्र, 21/31–33
17. मृच्छकटिक, 2/19
18. संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ0 975
19. मृच्छकटिक, डॉ0 श्रीनिवास शास्त्री, पृ0 83
20. नाट्यशास्त्र, 21/33
21. इति हस्तात्कटकमाकृष्य चेट्याः प्रयच्छति। मृच्छकटिक, 2.15 के पश्चात्
22. मृच्छकटिक, 2.16 के पश्चात्
23. मृच्छकटिक, डॉ0 श्रीनिवास शास्त्री, पृ0 77, 83
24. नाट्यशास्त्र, 21/35–36
25. मृच्छकटिक, 1/27
26. मृच्छकटिक, डॉ0 श्रीनिवास शास्त्री, पृ0 77, 83
27. नाट्यशास्त्र, 21/38
28. मृच्छकटिक, 2/19
29. संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ0 913, 301, 877
30. संस्कृत–हिन्दी शब्दकोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ0 301
31. मृच्छकटिक, 1/27
32. नाट्यशास्त्र, 31/36–38
33. मृच्छकटिक, 1/4 के पश्चात्
34. मृच्छकटिक, 5/35
35. नाट्यशास्त्र 21/39–40

*****

ISSN: 2395-4280 *Tripathgā*, An International Research Journal, Jan.-June 20

पर्यावरण संरक्षण में वैदिक यज्ञ की उपादेयता

रामकेश्वर तिवारी
वरिष्ठ अनुसन्धाता (व्याकरण विभाग)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

वेद भारतीय संस्कृति के प्राण हैं। इनमें यज्ञों की अतिशय महत्ता वर्णित है। यज्ञ शब्द य धातु से भाव अर्थ में **''यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्''** इस पाणिनी सूत्र से नङ् प्रत्यय होक निष्पन्न होता है। यज् धातु का अर्थ देवपूजा संगतिकरण एवं दान है। देवपूजा का अर्थ है देव क पूजा। अर्थात् सत्कार, देव और यज्ञ का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यथा देवता नहीं तो यज्ञ कार्य भ नहीं और यज्ञ नहीं तो देवता आराधना भी नहीं। यज्ञ का मुख्य लक्ष्य है देवतापूजन। निरूक्तका यास्क एवं अन्य निरूक्तकारों के अनुसार 'यज्ञ' शब्द का अर्थ है यजन है, क्योंकि इनका सम्पाद किसी फल विशेष की याचना के लिए किया जाता है। अतः इसे यज्ञ कहते हैं। किसी के सत्का व पूजा का अभिप्राय है उसके गुणों को आत्मसात कर लेना। अतः देवता, परमात्मा के गुणों क धारण करके उसके अनुरूप हो जाना देवपूजा है। इस प्रकार देवत्त्व सम्पादक कर्म का नाम य है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र में यज्ञ का उल्लेख इस बात का सूचक है कि इस ऋच की रचना से पहले यज्ञ का गूढ़तत्त्व मानव–जीवन में था एवं अग्निदेव यज्ञ के देव थे एवं यज्ञ ऋत्विक भी उपस्थित रहते थे–

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम, होतारं रत्नधातमम्।

यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में यज्ञ को **'श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** परमश्रेष्ठ कर्म नाम से सम्बोधि किया गया है। सम्पूर्ण यजुर्वेद में श्रेष्ठतम कर्म का ही अधिकार चलता है क्योंकि यजुर्वेद का अ श्रेष्ठतम कर्म का शास्त्र है। इसलिए सम्पूर्ण यजुर्वेद में यज्ञ अथवा कर्म का अर्थ श्रेष्ठतम कर्म है शतपथ–ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ देवताओं का अन्न है– **यज्ञो हि देवतानामन्नम्।**

यज्ञ में देवताओं को जो द्रव्य अर्पण किया जाता है, उसको प्राप्त करके देवता अत्यन प्रसन्न होते हैं– **अग्निर्हि देवानां मुखम्** के अनुसार अग्नि में दी गयी आहुति वस्तुतः देवताओं क मुख में ही दी जाती है। याज्ञिकों के अनुसार अग्नि में प्रविष्ट होने पर आहुति अमृत के रूप परिणत हो जाती है और अमृत–भोजी देवताओं के लिए वह जीवनाधार पदार्थ बन जाता है। फलत आहुति से प्रसन्न होने वाले देवता यजमान को अभीष्ट फल प्रदान करते हैं।

संसार के समस्त कर्मों में यज्ञ का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए सभी मनुष्यों क लिए यज्ञ का अनुष्ठान अतिआवश्यक है–**यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म, तस्माद् मनुष्येभ्यो यज्ञं प्राह।**

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में यज्ञ शब्द का उल्लेख मिलता है। कुछ स्थानों पर यज्ञ के महत्त के विषय में वर्णन प्राप्त होता है। यथा–

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।

पुरुष सूक्त के उक्त मन्त्र में 'यज्ञ' का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वे सामवेद एवं अथर्ववेद उस सर्वहुत यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। परमात्मा का नाम भी **'सर्वहुत यज्ञ'** है

उस परमात्मा से चारो वेद प्रकट हुए हैं। इस प्रकार मानव जाति के कल्याण हेतु ज्ञान स्वरूप वेद प्रकट हुए। ऋग्वेद ज्ञानवेद है, यजुर्वेद कर्मवेद है, सामवेद उपासनावेद है और अथर्ववेद ब्रह्म–ज्ञान का वेद है। इन चारों वेदों से ज्ञान, कर्म, उपासना और ब्रह्म साक्षात्कार होता है, एवं मानव की पूर्ण उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। उस यज्ञपुरूष से सदैव शान्ति एवं मोक्षदायक, कल्याणकारी ज्ञान–विज्ञान प्रकाशित होता है। इसी प्रकार ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में भी यज्ञ का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है–

ज्ञं हि त इन्द्र वर्धनो
भूदुत प्रियः सुतसोमो मिधेयः।
यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन्
यज्ञस्तमे वज्रमहिहत्य आवत्।।

अर्थात् यज्ञ ही बढ़ाने वाला, प्रियकर, पदार्थो का उत्पादक और दुःखों को दूर करने वाला है। अतएव यज्ञीय भावना से ओत–प्रोत होकर, यज्ञीय बनकर परमात्मा का स्मरण और पूजन करना चाहिए। एवं विशेष रूप से इन्द्र को यज्ञ की रक्षा करनी चाहिए। जिसके फलस्वरूप इन्द्र के वज्र की भी यज्ञ रक्षा करेगा। अर्थात् मनुष्य को यज्ञ के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए एवं यज्ञकार्य सम्पादन के पश्चात् उससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी– यह विश्वास रखकर यज्ञ सम्पादन करना चाहिए। यह उपदेश सभी मनुष्यों के लिए है।

यजुर्वेद यज्ञ को श्रेष्ठ कर्म मानता है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में यज्ञ देवता से समस्त सुख प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है–

आयुर्यज्ञेन कल्पतां, प्राणो यज्ञेन कल्पतां, चक्षुर्यज्ञेन कल्पताम्।
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां, पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।।

अर्थात् यज्ञ से हमारी आयु वृद्धि को प्राप्त हो। यज्ञ से हमारे प्राण वृद्धि को प्राप्त हो। यज्ञ से हमारी दृष्टि के बल में वृद्धि हो। यज्ञ से हमारे यज्ञ वृद्धि को प्राप्त हों। अर्थात् यज्ञ से हमारा जीवन पूर्णतया सुरक्षिरत एवं संवर्धित हो जाता है।

निःसन्देह यज्ञ से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष लाभ प्राप्त होता है। सर्वप्रथम वैदिक मन्त्रों के उच्चारण से मन को शान्ति मिलती है एवं मन्त्रपाठ से परिवेश दिव्य एवं वातावरण शुद्ध हो जाता है। इसके उपरान्त पर्यावरण शोधन की दृष्टि से यज्ञ सम्पादन श्रेष्ठ कार्य है। यज्ञ की सुगन्ध से पर्यावरण शुद्ध, शान्त एवं रोगविनाशक बन जाता है। यज्ञ से हानिकारक रोगाणु और विभिन्न कीटों का नाश हो जाता है।

वर्तमान समय में पर्यावरण की समस्या एक जटिल समस्या के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित है। यह समस्या आधुनिक समाज की देन है। प्रकृति के द्वारा अनावश्यक छेड़–छाड़ के द्वारा यह मनुष्यों ने उत्पन्न किया है। अपने लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य ने सभी क्षेत्रों में नैसर्गिक नियमों का अतिक्रमण किया है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया एक निश्चित प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित है। वैदिक काल से ही इस विचारधारा को महत्व दिया जाता है कि प्रकृति एवं पर्यावरण के साथ जीवन का सामंजस्य है। भारतीय मनीषियों ने प्रकृति के साथ मित्रता विकसित करने को कहा है न

कि प्रकृति के साथ द्रोह करने को। भारतीय मनीषियों का मानना है कि प्रकृति से अपन आवश्यकता भर का प्रकृति को बिना नुकसान पहुंचाए लिया जाए एवं जितना लिया जाए उतन उसे वापस भी दिया जाए।

भारतीय ऋषियों ने वातावरण को शुद्ध रखने के लिए प्रातः सायं अग्निहोत्र का विधान किया था, यज्ञ में घृत और औषधियों की आहुति से सम्पूर्ण वातावरण न केवल शुद्ध एवं सुगन्धित होता था, अपितु यज्ञ की आहुतियाँ अन्तरिक्ष लोक के वातावरण को प्रभावित करती थीं, जिसक कारण समय पर वर्षा होती थी, इसीलिए यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है– **'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म'**।

अर्थात् यज्ञ के द्वारा पर्यावरण को सुरक्षित रखना ही श्रेष्ठतम कर्म है। इस प्रकार सम्पूण प्राणियों का जीवन रक्षक होने से यज्ञ को **'प्रजापति'** कहा गया है। यह प्रजारक्षण तभी सम्भव है जब हानिकारक तत्वों से मानव जीवन को सुरक्षित रखा जाये।

यज्ञ के माध्यम से पर्यावरण परिशोधन की प्रक्रिया सुगमता से सम्भव हो सकती है यज्ञकुण्ड में प्रक्षिप्त आज्यघृतादि हवनीय पदार्थ सूक्ष्मतिसूक्ष्म होकर सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त हे जाता है। जीवन एवं दीप्तिकारक घृत के साथ विभिन्न प्रकार की औषधियाँ अपने गुणों द्वार पर्यावरण को पवित्र एवं सुगन्धित कर देती हैं–

यस्ते गन्धः पृथ्वि सम्बभूव यं बिभ्रत्योषध्यो यमापः।

यज्ञ न कवेल पर्यावरण को शुद्ध करता है, अपितु वह धनधान्य एवं पुष्टि भी प्रदान करत है–

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञादभवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुदभवः।।

अर्थात् यज्ञ के द्वारा वर्षा होती है एवं वर्षा के जल द्वारा सृष्टि का पोषण होता है अर्थात यज्ञ इस पर्यावरण को अर्थात् प्रकृति और जीवों के क्रमिक निरन्तरता को बनाये रखने में सक्षम है।

यज्ञ की हवियाँ सूक्ष्म बनकर आकाश मार्ग से ऊपर अन्तरिक्ष में जाकर वृष्टि को उत्पन्न करती हैं। न केवल साधारण वृष्टि अपितु पौष्टिक एवं रोगनाशक वृष्टि का उल्लेख भी वेदों म प्राप्त होता है–

घृतं पयस्व दारया यज्ञेषु देववीतमः।अस्मभ्यं वृषिमापव।

अर्थात् हे विद्वान! तू यज्ञ में घृत की धाराओं को प्रवाहित कर उसके द्वारा यज्ञ को पवित्र कर दे। उसके द्वारा हमारे लिए वृष्टि को उत्पन्न कर उस वृष्टि को रोगनाशक और बलप्रद बन दें। यहाँ घृत शब्द के द्वारा अन्य यज्ञीय पदार्थो का ज्ञान होता है। वेद में यज्ञ द्वारा वृष्टि निर्माण के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं–

समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचा हभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यमयः।।

अर्थात् जल में वह समान क्रिया है कि यह कभी ऊपर चला जाता है एवं कभी नीचे आ जाता है। इसलिए यज्ञ की अग्नि ऊर्ध्वगामी होकर द्युलोक को जल से सींच देती है एवं वह जल बादल बनकर नीचे पृथ्वी को सींच देता है। ऋग्वेद भाष्य के अनुसार–

तस्योन्नतिः वृष्टि प्रवापेन, वनरक्षणेन होमेन च संसाधनीया।
यतः सर्वस्य पालनं सुखेन जायते।

अर्थात् जिस मेघ के द्वारा सबका पालन होता है, उसकी उन्नति हरित वनों के रक्षण से प्रतिदिन यज्ञ सम्पादन से सभी मनुष्यों को सिद्ध करनी चाहिए। अतः यज्ञ वृष्टि का एक मुख्य साधन है।

यज्ञ के द्वारा प्राणिमात्र में जीवनशक्ति का संचार होता है। अर्थात् यज्ञ से शरीर स्वस्थ, बलवान और निरोग होता है। अर्थात् इसका वैज्ञानिक पक्ष यह है कि जहाँ भी अग्नि तत्व की प्रधानता है, वहाँ जीवनशक्ति का निवास है। प्रतिदिन यज्ञ सम्पादन से शरीर में अग्नितत्व का संचार होता है, वहीं यज्ञीय वृष्टि से पुष्ट होकर अग्नितत्व प्रधान बने पदार्थों का सेवन करने से शरीर में जीवन शक्ति का विकास होता है। इस प्रकार यज्ञकर्ता दिन–प्रतिदिन शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों से पुष्ट होता है–

स घा यस्ते ददाशति समिधा जातवेद से।
सो अग्ने धत्ते सुवीर्यं स पुष्यति।

अर्थात् जो यज्ञाग्नि के लिए समिधा प्रदान करता है, वह निश्चय ही उत्तम वीर्य को धारण करता है और सभी प्रकार से पुष्ट होता है। वेदानुसार यज्ञ के माध्यम से उत्तम सच्चरित्र एवं कर्तव्यनिष्ठ प्रजा की प्राप्ति होती है अर्थात् जो मनुष्य विधिपूर्वक यज्ञ सम्पादन करता है, वह जीवन के उत्तम मूल्यों को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

यज्ञ द्वारा पवित्र पर्यावरण का निर्माण होता है, जो मानव को यशस्वी बनाता है। उसकी कीर्तिरूपी सुगन्ध यज्ञ की सुगन्ध के समान चारों दिशाओं में व्याप्त हो जाती है। वेद में कहा गया है– **जातवेदो यशो अस्मासु धेहि।**

यज्ञाग्नि मनुष्य के आन्तरिक यश को धारण कर उसमें कल्याण को प्रतिष्ठित करता है। यज्ञ मानव जीवन को कल्याणकारी एवं परोपकारी बनाता है। यज्ञ मनुष्य को शान्तचित्त एवं प्रगतिशील बना देता है।

यज्ञ से मनुष्य शक्तिशाली बन जाता है एवं मन में अहिंसा भाव भी आ जाता है। यज्ञ से आत्मसमर्पण का भाव वर्द्धित होता है। जैसे यज्ञ में आहुति देते समय **'स्वाहा'** एवं **'इदं न मम'** यह उच्चारण करने से समर्पण का भाव एवं जो द्रव्य मैंने यज्ञ के निमित्त प्रदान किया वह **'मेरा नहीं है'** अर्थात् संसार के कल्याण के लिए यह उदात्त समर्पण भाव अति आवश्यक है। अतः जनकल्याण एवं सर्वमंगल के लिए यज्ञानुष्ठान करना चाहिए।

यज्ञों के अवलम्बन से समस्त सुख–शान्ति, ऐश्वर्य प्राप्ति, दुःख, अशान्ति पर्यावरण प्रदूषण का निवारण, वातावरण की यज्ञीय धूम से स्वच्छता एवं यज्ञों की उपेक्षा से प्राणी अपने अभीष्ट सुखादि से वंचित होकर अनन्त दुःखों का भाजन बनता है। लौकिक अभ्युदय के लिए यज्ञ की नितान्त आवश्यकता है। मानव जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं का निवारण यज्ञ में है। वेदशास्त्रोक्त कर्मरूप यज्ञों का आश्रय लेकर मानव सुख का भागी बनता है। यज्ञ को सभी प्राणियों एवं देवताओं

का जीवन कहा गया है। उस यज्ञ के सर्वांगीण अनुष्ठान से यज्ञकर्ता प्रजा और पशुओं से समृद्धि को प्राप्त करता है–

सर्वेषां वै एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः।
तस्य समृद्धिमनुयजमानः प्रजया पशुभिः ऋधाते।।

मनुष्य यदि स्व–स्व वर्णानुसार विहित कर्मरूप यज्ञों के अनुष्ठान में संलग्न रहे, तो उसे किसी भी संकटमय परिस्थिति का सामना नहीं करना पड़ेगा। यज्ञों की उपेक्षा से न केवल मानवीय संकट अपितु प्राकृतिक संकट का भी सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए नियमित यज्ञ सम्पादन से समयानुसार मेघवर्षण, विपुलमात्रा में अन्न आदि की उत्पत्ति होती है। किन्तु इसके विपरीत आचरण से कभी अवर्षण, कभी अकालवर्षण, कभी खण्ड–वृष्टि एवं कभी अतिवृष्टि का सामना करना पड़ता है।

अतएव प्राकृतिक विज्ञान रूप यज्ञ से पर्यावरण संरक्षण एक नवीन प्रयास है। अतः मनुष्य का यह दायित्व है कि वह वातावरण को प्रदूषित होने से बचाये एवं पर्यावरण की समस्या को दूर करने का प्रयास करे वर्तमान विकास के इस दौर में हमें वैदिक वाङ्मय में विद्यमान यज्ञ के विधान को समाज में प्रत्येक सद्गृहस्थ को यज्ञ और पर्यावरण के परस्पर अन्योन्याश्रित भाव के प्रति जागरूक होना चाहिए इसी में सम्पूर्ण प्राणि जगत का कल्याण है।

संदर्भ

1. पाणिनीय सूत्र– 3/3/10
2. ऋग्वेद– 1/1/1
3. शतपथब्राह्मण–5/1/1/2
4. शतपथ ब्राह्मण– 3/7/4/11
5. उत्तर गोपथ ब्राह्मण– 2/13
6. ऋग्वेद– 10/10/1
7. ऋग्वेद– 3/32/12
8. यजुर्वेद–9/21
9. अथर्ववेद 12/1/13
10. भगवद्गीता–3/14
11. सामवेदं 13/1/3
12. ऋग्वेद– 1/164/51
13. ऋग्वेद भाष्य 5/8/3/4
14. ऋग्वेद 3/1/3
15. ऋग्वेद 5/4/1
16. शतपथ ब्राह्मण– 14/3/2/1

*****

MEASUREMENT OF UNIVERSE IN SANSKRIT LITERATURE

Raja Pathak
Research Scholar, J.R.F.
Department of Jyotish
Faculty of S.V.D.V
Banaras Hindu University, Varanasi

The word universe derives from the Old French word ***univers***, which in turn derives from the Latin word ***universum***. The Latin word was used by Cicero and later Latin authors in many of the same senses as the modern English word is used. The Latin word derives from the poetic contraction ***unvorsum*** — first used by Lucretius in Book IV (line 262) of his *De rerum natura* (On the Nature of Things) — which connects un, uni (the combining form of unus, or "one") with ***vorsum***, ***versum*** (a noun made from the perfect passive participle of vertere, meaning "something rotated, rolled, changed").

It can`t be define in a single word. Let us see some definitions:-

Dictionary says all existing matter and space considered as a whole; the cosmos. The universe is believed to be at least 10 billion light years in diameter and contains a vast number of galaxies; it has been expanding since its creation in the Big Bang about 13 billion years ago.

The Universe is the totality of everything that exists, has existed, and ever will exist. Similar meaning is sometimes conveyed with the words cosmos, world, reality, and nature. The Universe includes all of spacetime; the entire contents of outer space; all matter, energy, dark matter, and dark energy; all galaxies, stars, and planets; all humans and every living thing; all molecules, atoms, subatomic particles, photons, and their wave dualities; all physical constants, physical laws and fundamental interactions. The Universe can even be understood to encompass all of mathematics, all concepts and ideas, and all thoughts and emotion. According to the Acharya Bhashkar Those who are learned in the science of spheres, and those who know the spheres like the emblic myrobalan (*Aamlaka/Aamlaa*) placed on their palm, tell us that the distance of the universe which the rays of the sun traverses. In the srimad-Bhagavatam a figure of 500 million yojanas is given for the diameter of the universe. On the basis of 8 miles per yojana, this comes to 4 billion miles, a distance that can accommodate the orbit of Saturn (according to modern distance figures), but that is smaller than the orbital diameters of Uranus, Neptune, and 25 Pluto. Since this figure for the diameter of the universe seems to be quite small, it is interesting to note the purport given by srela Prabhupada to CC ML 21.84: versa Kanhaiya said, "Your particular universe extends four billion miles; therefore it is the smallest of all the universes. Consequently you have only four heads."

Çrela Bhaktisiddhanta Sarasvate Öhäkura, one of the greatest astrologers of his time gives information from Siddhanta-siromani that this universe measure 18,712,069,200,000,000 X 8 miles. This is the circumference of this universe. Accordin to some, this is only half the circumference.

In his Anubhashya commentary on this verse of Çaitanya-caritämåta, Çrél Bhaktisiddhänta Sarasvaté quotes from Surya-siddhanta 12.90, "The circumference o the sphere of the Brahmanda in which the sun's rays spread is 18,712,080,864,000,00 yojanas" (SS, p. 87). Then he quotes Siddhant siromani, Goladhyaya Bhuvana-kosha "Some astronomers have asserted the circumference of the circle of heaven to b 18,712,069,200,000,000 yojanas in length. Some say that this is the length of the zon binding the two hemispheres of the Brahmanda. Some Pauranikas say that this is th length of the circumference of the Lokaloka Parvata. Here the circumference o 18,712,069,200,000,000 yojanas corresponds to a diameter of 5,956,200,000,000,00 yojanas. This number is much larger than the 500,000,000-yojana diameter given in th Bhagavatam, and we might ask how it relates to it. According to the Bhagavatam (5.20.37),

> By the supreme will of Kanhaiya, the mountain known as Lokaloka has bee installed as the outer border of the three worlds—Bhürloka, Bhuvarloka and Svarloka— to control the rays of the sun throughout the universe. All the luminaries, from the sun u to Dhruvaloka, distribute their rays throughout the three worlds, but only within th boundary formed by this mountain.

This verse reconciles the statement that the 18-quadrillion-yojana circumferenc is the limit of distribution of the sun's rays with the statement that it is the circumferenc of Lokaloka Mountain. We also note that in Srimadbhagvatam 5.20.38 the diameter o Lokaloka Mountain is stated to be half the diameter of the universe. This is consisten with the statement in Çrila Prabhupada's purport that "according to some, this is onl half the circumference." We are thus left with a picture of the universe in which the ray of the sun and other luminaries spread to a radial distance of 2,978,100,000,000,00 yojanas, and are there blocked in all directions by an enormous mountain. This mountai lies halfway between the sun and the beginning of the outer coverings of the universe This means that the distance from the sun to the coverings of the universe is some 5,07 light-years, where a lightyear is the distance traveled in one year by a beam of ligh moving at 186,000 miles per second and we use the Surya-siddhanta's 5-mile yojanas.

Method of Measurement

Present we will consider what the Sanskrit literature have to say about the radiu of the universe. It turns out that the Siddhanta-shiromani, the Surya-siddhanta, and man other Sanskrit literatures give a simple rule for computing this number.

The Sürya-siddhanta gives the following rule: "Multiply the number of … revolutions of the moon in a kalpa by the moon's orbit…: the product is equal to the orbit of heaven (or the circumference of the middle of the brahmanda): to this orbit the sun's rays reach" (SS, p. 86). If we perform this calculation, we find that the circumference of the brahmanda, or universe, is: 57,753,336 X 1,000 X 324,000 = 18,712,080,864,000,000 yojanas. In the Aryabhatiya of Aryabhata we find the statement that the circumference of the sky (Akash-kakshaa) in yojanas is equal to 10 times the number of minutes of arc covered by the moon during one divya-yuga (AA, p. 13). This comes to: 57,753,336 x 360 x 60 x 10 = 12,474,720,576,000 yojanas.

Conclusion

When interpreting this figure we get the difference in results, then we should keep in mind that Aryabhata used a yojana of about 7.55 miles rather than 5 miles. If we convert Aryabhata's figure to 5-mile yojanas, we obtain a universal circumference that is almost exactly one thousand of the figure cited in Surya-siddhanta and Siddhanta-Shiromani. The reason for this is that Aryabhata used the number of revolutions of the moon in a divya-yuga rather than the number of revolutions in a kalpa. (There are 1,000 divya-yugas per kalpa.).

Reference

1. Surya siddhanta
2. Siddhant siromani(ganita adhyay)
3. Siddhant siromani(Gola adhyay)
4. Siddhant siromani(Anubhashya)
5. Siddhant siromani(Commentary By Bhakti Siddhanta Saraswati)
6. Srimad Bhagvatam
7. Aaryabhatiyam
8. Brahmanda puranam
9. Vishnu Dharmottar puranam………………………

* * *

आचार्य चन्द्रमौलिद्विवेदिविरचितरसवसुमूर्तेः अभिधावृत्तिविमर्शः

आशुतोष कुमार
दिल्ली विश्वविद्यालय

आचार्य चन्द्रमौलिद्विवेदी आधुनिककाव्यशास्त्रमीमांषकेषु लब्धकीर्तयः। तेषां रसवसुमूर्त्याख्याकाव शास्त्रविषयकग्रन्थे विविधाः काव्य शास्त्रीयपक्षाः विचारिता वर्तन्ते। भरतादाभ्य पण्डितराजं याव काव्यशास्त्र–परम्परालोच्य तत्तत्सिद्धान्त–विचारणाप्रसङ्गे आचार्येण स्वनिर्मितकरिकोदाहरणपुरस्स काव्य शास्त्रविषयिकी–गम्भीरतमा मीमांसा विहिता। तत्र वृत्तिविमर्शप्रसङ्गे आचार्येण अभिधावृत् निरूपणम् विस्तारेण युक्तिपुरस्सरं विहितमिति। यथा–

अभिधावृत्ति :–

"सकेतितार्थस्य साक्षात्प्रतिपादकत्वमभिध ।"
इति लक्षणं तावदाचार्येणात्र व्यवस्थितम्।

अत्र प्रतिपा दिकत्वमभिधानमिति। मम्मटेनाऽपि यथा–

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते सवाचकः।
संकेतितस्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।।
समुख्योर्थस्तत्रमुख्यो व्यापारोस्याभिधोच्यते।।"

अप्पयदीक्षितोऽपि वृतिवार्तिके–

शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा।

पण्डितराजेनाऽपि यथा–

शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सबन्धविशेषोऽभिधा।

चन्द्रालोके जयदेवस्तु यथा–

"धर्मं कश्चित्पुरस्कृत्यप्रायः शब्दः प्रवर्तते
यथार्थस्पष्टमाचष्टे शब्दस्तामभिधां विदुः।
जात्या गुणेन क्रिया वस्तुयोगेन संज्ञया।
निर्देशेन तथाप्राहुः षड्विधामभिधां वुधाः।
गौर्नीलः पाचको दण्डी डित्थः कंस इति क्रमात्।
कंसं हिनस्ति कंसारिर्न च कं समाश्रितम् " इतिजयदेवः।

अत्र प्राधान्नेनाचार्यः अप्पयदीक्षितस्यमतं विचारयति पण्डितराजं– पूर्वपक्षित्वेन स्वीकृत्य।

तत्र "शक्त्याप्रतिपादकत्वमभिधेति यदप्पयदीक्षितस्य" मतं तत्र शक्त्या इतिपदस्य ग्रहणं किमर्थ–मि विवृणोति यथा–

2.1. वृत्तिपदस्याभिप्रायः–

वित्तन् प्रत्ययो वृत्तो गृहीतः। तत्र अभिधावृत्ते व्यापाररूपत्वम् करणार्थकक्तिन् प्रत्य स्वीकृत्याभिधादिषु वृत्तिः पदप्रयोगः।

वृत्तिनिरूपण प्रसङ्गे प्रतिपादकत्वपदेन "प्रतिपादकशब्दानिष्ठा प्रतिपत्तिहेतुरूपा काचिद् वृत्तिः स्वीक्रियते।

यद्यपि प्रतिपादक शब्दनिष्ठज्ञानकारणता शाब्दबोधे भवति किन्तु पदार्थोपस्थितो वृत्तेरेव कारणता। अतः प्रतिपादकनिष्ठशाब्दबोधार्थोपस्थितिसम्बन्धिकरणत्वात्मधर्मद्वयं लभ्यते। तत्र शाब्दबोधकरणतावारणाय 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमिति दीक्षितः।

2.2 शक्तिग्रहसाधनानि–

अत्र शक्तिस्तु साक्षात् सामर्थ्यम्।

साक्षात् सामर्थ्यं तु पदव्याकरोणोपमानादिना जायते। यथा–

शक्तिग्रहो व्याकरणापमानकोशाप्तवाक्य व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सानिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा।।

संकेत सहायएव शब्दोऽर्थ विशेषं प्रतिपादयतीति शब्दगतोऽर्थ

प्रतिपादको व्यापाराऽभिधा। अतएव शक्त्याप्रतिपादकत्वमभिधेति।

2.3 पण्डितराजस्य दीक्षितमतखण्डनम्–

पण्डितराजेनात्र दोषद्वयं दर्शितं तत्रप्रथमोऽसंगतिः द्वितीयश्च आत्माश्रयः।

यथा रसगंगाधरे–

यत्तु वृत्तिवार्तिके शक्त्याप्रतिपादकत्वमभिधा"

इति अप्पयदीक्षितैरुक्तं तत्तुच्छम्। उपपत्ति विरोधात्। तथाहि इहशब्दाज्जायमानोऽर्थोपस्थितौ कारणीभूतं यदीय ज्ञानं सा शब्दवृत्तिरभिधाख्या। लक्ष्यतया चप्रस्तुताप्रतिपादकत्वस्य प्रतिपत्ति हेतुरूपस्य शब्दगंतस्य न ज्ञानं प्रतिपत्तौ करणम्। अतः कथं नाम प्रतिपादकत्वमभिधेत्युच्यते।

इत्यादिनासंगति प्रदर्शिता।

2.4 खण्डनपरिहारः–

अत्र यदीयज्ञानं सा अभिधेति यदुक्तम् तत्र पृच्छ्यते ज्ञानमभिधा वा ज्ञानहेतुः। चेन्न ज्ञानमभिधा–,

अपितु यदीय ज्ञानमितियत् पदेन निर्दिष्टस्य तद्भिमर्षास्तदानीमभिधा सम्बधि कीदृशं ज्ञानमभीष्टम्? शब्दरूपात्मकं वादर्थात्मकम्। अभिधासम्बंधि उभयात्मकमपि ज्ञानं शब्दार्थोपरिस्थतौ न कारणीभूतम्। अतः शब्दादर्थोपस्थितौ अर्थप्रतिपत्ति हेतुरूपो यो व्यापारः साभिधेति।

इत्थं प्रतिपादकत्वास्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दास्यैवार्थप्रतिपत्तौ कारणम्। यश्चात्माश्रयो दोषः सोऽपि न घटते। यतोहि पूर्व शक्तिः संकेता भिन्नेति प्रतिपादिता न च संकेत एवाभिध अपितु संकेत सहायेनशब्देनार्थनिरूपिताभिधा। इत्थं लक्षणे शक्यति–रिक्तैवाभधेति आत्माश्रयदोषाऽपि नसम्भवति।

2.4 चतुर्धा अभिधा–

आचार्येणात्र चतुर्धाभिधा विवेचितम् यथा–

i. **शब्दस्य शब्दगताभिधां**

ii. **अर्थस्यार्थगताभिधा।**

iii. **शब्दस्यार्थगता।**

iv. **अर्थस्यशब्दगताभिधा।**

शब्दस्यशब्दगताभिधा–

गौरिति शब्दः गौरित्यर्थ इत्यादिना तथाच 'स्वरूपं शब्दस्येत्यादिना शब्दस् स्वार्थस्वरूपयारुभयोर्ग्रहणं क्रियते। यथा डित्थादि यदृच्छाशब्दाः।

शब्दस्यार्थगताभिधा–

संज्ञिषूपाधित्वेन यदा संन्निवश्यते तदानीं शब्दस्यार्थगतः। चतुर्विधेषु संकेतितार्थे शब्दस्यार्थगताभिधामन्तव्या।

अर्थस्यार्थगताभिधा–

अर्थस्यार्थगताभिधा अर्थशक्तिरूपा।

अभिधामूलार्थशक्युत्थध्वनौ वक्तृबोधव्याद्यर्थेन पूर्व वाच्यार्थेसामर्थ्यमुत्पाद्यते तदानी वाक्यार्थो वाच्यार्थो वा कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तः।

मम्मटोऽपि यथा–

अर्थशक्त्युद्भवोप्यर्थो व्यंजकः सम्भवीस्वत इति।

अर्थस्यशब्दगताभिधा–

कंसंहिनस्ति कंसारिर्नरं चकंसतमाश्रितम्।

कं संहिनस्ति इतिवांच्यास्य कंसारिरित्यत्राभिधा।

कंसमाश्रितं नरम् इतिवांच्यार्थस्य नरकं नरका सुरमिति। नरकासुर–मिति शब्दोऽभिधा।

अतएव चन्द्रालोके–

जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया।
निर्देशेन तथा प्राहु षड्विधामभिधाबुधा।।
गौर्नीलः पाचको दण्डी डित्थः कंसइतिक्रमात्।
कंसहिनस्ति कंसारिर्नरं चकं समाश्रितम्।।

जात्यादिर्जातिरेववा–

महाभाष्यमूलत्वमुररीकरोति आचार्य': मुख्यार्थस्य एव संख्याभेदविषये यथा–

गौःशुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दांना प्रवृत्तिः इत्यत्र आचार्य मम्मटेन चतुष्टय चतुरवयवात्मिका प्रवृत्तिरूपाधिरिति कृत्वा उपाधेयस्यैव चत्वार उपाधयो निर्दिष्टा।

आचार्य जयदेवेन महाभाष्यकारस्याादि पदेन अतिरिक्तसंज्ञानिर्देशयोरपिग्रहणं कृतम्। मुकुलभटेनापि-चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिर्भगवतामहाभाष्य कारेणोपवर्णितां 'जातिशब्दाः गुणशब्दा क्रियाशब् यदृच्छाशब्दाश्चेति।

चन्द्रालोकेइति दिशा दशधाभिधनिरूपणप्रसङे चतुर्षु विभक्ततयैवाभिधा गृहीता

शक्ति भेदा :– यया शक्त्या अभिधा प्रवर्ततेसातु–

1. केवल समुदायत्मिकाशक्तिः–

एषा सिद्ध धर्मात्मवस्तुषु संज्ञासु च। यथा गौशुक्लः डित्थादयः। अत्र केवल समुदाय शक्तेः सद्भावादवयवशक्तेरभावात् न गौरित्यत्रावाचकशक्तेरभावः "गमेर्डोः" इत्यादिना गच्छतीतिगौ रिति व्युत्पादनादिति चेन्नशयितायां गवि तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तस्याभावात्। न च केवलं व्युत्पत्तिमात्रेणैव अत्रावयवशक्तेरल्लासो कल्पनीयः। डित्थादावपि डिम्भेषुतिष्ठति इति मध्यमपद लोपिसमासाप्रयत्वेन व्युत्पादयितुं शक्यत्वात्। यथोक्तं – अन्यच्च प्रवृत्ति निमित्तमन्यच्च व्युत्पतिनिमित्तमिति। अतः शब्दानां प्रवृत्तौतु समुदायशक्तेरुल्लासोस्वीकर्तव्यः।

2. केवलावयवात्मिका शक्तिः–

साध्यधर्मात्मवस्तुषु केवलावात्मिका पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः साध्यधर्मः। यथा चलः पाचकः पाठकः अत्र चलतीति, पचतीति इत्यादिषब्देषु धातुप्रत्ययबोध्ययोरर्थ–योरन्वयेनैवोल्लासाच्चलन पाक कर्तृत्व रूपोडथोऽ भिधीयते।

3. उभयात्मसंकरात्मिकाशक्तिः–

वस्तु योगत्मवस्तुषूभयात्मसंकरात्मिका निर्देशात्मिका यथा–दण्डीपङ्कजं इत्यादय उदाहरणानि।

अत्र वस्तु योगेनाभिधा प्रवर्तते। दण्डः अस्ति अस्येति विग्रहेण सर्वदण्डग्राहिषु नरेषु अभिधावारणाय दण्डग्राह्मति रिक्तस्य केवलस्य सन्यासिनो ग्रहंण क्रियते। अतः प्रकृतिप्रत्ययावयवशक्तिवेद्यानां दण्डग्रहणकर्तृणामाकाङ्क्षादिवशादन्वये जाते दण्डग्रहण कर्तृरूपादर्थादतिरिक्तस्य सन्यासिनः प्रत्ययेन तदर्थे समुदाय शक्तेरपि कल्पनादुभयोः संकरः। यात्रार्थस्य शब्दगताभिधा तत्रयौगिकरूढनाम्ना गृहयते। इत्थं साहित्यशास्त्रे चतृसृष्वप्यभिधासु शब्दस्यशब्दगता अर्थस्थार्थ–गता चेत्युभयोरितिरिक्ताभ्यां शब्दस्यार्थगताऽर्थस्य शब्दगतेत्युभयोः क्षेत्र विशेषेण निरूपितप्रायं लभ्यते।

3.2 अर्थश्लेषस्थले अष्टभेदा अर्थस्यशब्दगताभिधायाः–

अर्थभेदनशब्दभेदइतिन्यायात् वर्णपदलिङ्भाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानां भेदादष्टधा भवति अर्थस्यशब्दगताभिधा। तत्र पदश्लेषस्योदाहरम् आचार्यस्यस्वस्यैव यथा–

जननीराग हेत्वन्तर्मोदमाराधनाक्षमम्।
रसान्तरार्थसम्बद्धमावयोर्वचनं समम्।

जनानां नीरागहेतु, अन्तर्मोदमायाः (लक्ष्म्याः) आराधनेऽक्षम्, रसान् अन्तरा येऽर्था तैः सम्बद्धम् मे वचः तथा च जनन्या

जगन्मातुरागहेतुः अन्तमोदादिमाराधनायां क्षमं, रसां धरामन्तरा,

लोकोत्तरा येअर्थाः तैसम्बद्धं तववचनमिति।

उक्तदिषा एवाचार्येण समस्तभेदाः उदाहरणनिर्देशपुरस्सरं व्याख्यायितम् रसवसुमूतौ।

3.3 शब्दस्यार्थगताभिधा–

शब्दस्यार्थगताभिधा प्रसङ्गस्तुनानार्थकस्थले।

अत्रतु कोषव्यवहाराभ्यां नानार्थेषु संकेतः। संयोगादयः शब्दार्थसशयं निवार्य विशेषार्थस्मृतिमुत्पादयति। यथोक्तम्–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यान्यस्यसन्निधिः।
सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः।

अत्र विचार्यते अनवच्छेदः संशयः। सच नानाकोटिक एंव अतो यदा नानार्थानां नोपस्थिति यत्तदानीं कुतः संशयः। अतः यदभिधया नानार्थोपस्थितौ संयोगादीना विशेषस्मृति हेतुत्वमुपयोगित्वं च। संयोगाद्युपाधिमदभिधया विशेषार्थस्मृतिः विशेषणक्यार्थबोधायेतिस्पष्टम् न च संयोगादिरेवाभिधा तदितरस्थलेऽपि तस्याः सत्वात्। अतोसंयोगादि द्वितीयार्थस् प्रतिबन्धकः।

1. संयोगो नानार्थशब्दशक्त्यान्तरवृत्तितया अप्रसिद्धत्वे सति तच्छक्यवृत्तितया प्रसिद्ध सम्बन्धः।
2. विप्रयोगो विश्लेषः।
3. साहचर्यमेकस्मिनकार्ये परस्परापेक्षित्वम्।
4. विरोधिता प्रसिद्ध वैरम्। सहानवस्थानं च।
5. अर्थः प्रयोजनम्। चतुर्थ्याभिधेयम्।
6. प्रकरणं वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता।
7. लिङ्ग नानार्थपदशक्यान्तरावृतिरेकशक्यगतः साक्षाच्छब्दवेद्यो धर्मः।
8. शब्दस्यान्यस्य संनिधिर्नानार्थपदैकार्थमात्रं संसर्ग्यर्थान्तरवाचक पदसमभिव्याहारः।
9. सामर्थ्यकारणता।
10. औचिती योग्यता।
11. देशो नगरादिः।
12. कालो दिवासादिः।
13. व्यक्तिः स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गानि।
14. स्वरउदात्तादिः।

नानार्थस्य शब्दस्य सकलार्थानामुपरिस्थितावभिधया जातायां पुनः संयोगादिन एकार्थमात्रविषयायाः पदार्थोपस्थितेरन्वयबोध इत्यर्थकमेव शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः इतिवचनात् अतो नात्र अभिधया एकमात्रार्थ स्मृतिः नाप्यपरार्थोपस्थापन प्रतिबन्धकत्वम्।

इत्थमेतदपि वक्तुं सुकरम् यत् नानार्थोपस्थितेरनन्तरं संयोगादिनैकस्यार्थस्य स्मृतिः तदनन्त व्यंजनेनापरेषामर्थानामुपस्थितिरत एवाभिधा मूलत्वमस्य। अतो मम्मटेनोक्तम्–

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थ धीकृद् व्यापृतिरंजनम्।।

3.4 अप्पयदीक्षितस्याभिधाविषयक मतम्

श्रीमदप्पयदीक्षिता वृद्धैराचार्यैरस्फुटीकृतान् विशेषान् दर्शयिंतु रुढियोगोयोगरूढिश्च त्रिधाभिधानिरूपिता। यथा–

शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा।

सात्रिधा रूढिर्योगो योगरूढिश्च।

तत्ररूढिः–**अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः।**

योगः–**अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः।**

योगरूढिः–**अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढि ।**[2]

अत्र रूढिःमणिनूपुर मौक्तिकेषु क्रमेण अव्यक्तयोगो निर्योगो योगाभासश्च तद्भेदाः प्राचीनोक्ता उदाहृताः।

रूढ्यादिषु क्वचिद् रूढपदेऽपि योगार्थः क्वचित् योगपदऽपि रूढ्यर्थः क्वचिच्च योगरूढ्पदेड्पि केवलयोगार्थः, क्वचित्केवलं रूढ्यर्थः क्वचिच्च योगरूढपदसत्वेऽपि पुनः रूढपदोपादानं इति वैलक्षण्यमभिधासु दश्यतें। किन्त्वत्ररूढयादीनां केवलत्वमेव यथालक्षणम् मन्तव्यम्।

रूढयादिषु अन्यार्थस्य सत्वेऽपि प्रकृतार्थमधिकृत्य लक्षणव्यवस्थापनम्–

ननु कथं रूढपदे योगार्थस्य सत्वऽपि केवलरूढिः योगपदे रूढ्यर्थस्यसत्वऽपि केवलयोग, योगरूढपदे केवलयोगार्थस्य केवल रूढ्यर्थस्य सत्वऽपि योगरूढपदमेव व्यवहर्तुं शक्यते इति न वक्तव्यम्। यतोहि यथा प्रकृतार्थ तेषा केवलत्वस्य विवक्षितत्वेपिप्रकृततयान्यस्य विवक्षितत्वेविवक्षितत्वे वा नास्ति वक्ष्यमाणरीत्याक्षतिः, रूढयादिषु प्रत्येकं प्रतिलक्षणव्याप्तत्वात्।

रूढपदे योगर्थस्याभासेऽपि केवलरूढि्र्यथा–

पदजलज समीपं स्थातुकामः तपस्यन्,
नियमधृततृणान्तर्मण्डपः श्वापदोऽम्ब।।
तव वहनमवाप्यागामिजन्मन्यनन्त
बल विभवमयस्ते भान्मणीमण्डपस्थः।।

हे अम्बः श्वापदः श्वासिंहयादृशस्तवचरणकमलमवाप्तुं सुदृढतृणनिर्मितमण्डपाश्रितः तपस्यन् आगामिजन्मनि तववाहनं भूत्वा अपरिमेयबलविभवसम्पन्नः शोभमानो मणिद्वीप मण्डपस्थोऽस्ति।

नियमधृततृणान्तर्मण्डपः इत्यत्र यथा नियमं ग्रहीत तृणमयपात्रान्तर्मण्डपायीति मण्ड पिबतीति मण्डपायी योगार्थस्तपस्यानुकूलत्वेन विवक्षिताऽपि न योगरूढः अन्वयेनेकार्यस्यानुल्लसितत्वात् ।उभयोःरूढियोगार्थयोः भिन्नत्वेनाभेदाध्यवसायत्वस्वीकर्तुं शक्यते अतोऽत्र तृणनिर्मिति मण्डपार्थे रूढिः केवलैव। जयदेवेनात्र योगाभासकादिर्निद्रिष्टा।

अनेन प्रकारेणाचार्येण अन्यभेदानामपि उदाहरणानि निद्रिष्टानि ।अत्र रूढ्यभिधायाः मण्डपेत्युदाहरणे अस्ति केवलसमुदायशक्तिः मण्डंपिवतीति मण्डपो{वियवार्थोऽपि दृश्यतेतत्रापि न योगस्य प्रवृत्तिः। योगस्थले समुदायार्थस्यप्रतिभासेऽपि न रूढिः। गजमुखमवलम्बे चन्द्रमौलिमित्यत्र शिववाचिनश्चन्द्रमौलिपदस्य न रूढ्यर्थग्रहः। अन्यथा यत्केवलं रूढियोगाभ्यामुदाहूतं तत्सर्वं योगरूढेग्रहः। अन्यथा यत्केवलं रूढियोगाभ्यामुदाहृतं तत्सर्वं योगरूढेर्विषयोऽवशिष्येत। कथं नोभयत्र योगरूदिरेवस्वीकृतेति जिज्ञासायाम् रूढिधातुप्रत्ययशक्तिबोध्ययोरर्थयोरन्वयेनोल्लसितैकस्मिन् पदार्थे प्रत्यायकत्वं योगरूढिः। यत्र रूढिशक्ति बोध्यपदार्थो भिन्नो धातुप्रत्यय शक्तिबोध्यः पदार्थो भिन्नः अन्वयेनोल्लासाभावस्तत्र न योगरूढिः अपितु प्रकृतार्थान्वयाहार्यो याऽर्थः सकेवलं योगार्थः केवलरूढ्यर्थोवास्बीकार्येति निर्णयः।

सन्दर्भ

1. रसवसुमूर्तिः आचार्यचन्द्रमौलिद्विवेदी समज्ञा प्रकाशन 2002–03
2. काव्यप्रकाशः आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी का.हि.विश्वविद्यालस्य वाराणसी 1981
3. वृत्तवार्तिकम् काव्यमाला सिरीज 36 निर्णय सागर प्रेस मुबंई 1893
4. पृ. 140 रसगंगाधर निर्णय सागर प्रेस
5. चंद्रालोक जयदेव 10.2–3
6. काव्यप्रकाशः आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी का.हि.विश्वविद्यालस्य वाराणसी 1981
7. 1981 अभिधावृत्त मात्रिका पृ. 4–5 आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी चौखम्बा विद्याभवन दिल्ली 1973
8. रस गंगाधर पृ.118 –125 काव्यमाला निर्णय सागर
9. वृत्तिवार्तिकम् पृ.1 काव्यमाला 36 निर्णयसागर प्रेस

* * * * *

साहित्यशास्त्रे चित्रालंकारानुशीलनम्

ऋचा
दिल्लीविश्वविद्यालयः

अतिविस्तृतमिदं संस्कृतकाव्यस्य जगत्। ससारानलात् व्याकुल मनस्कः परिश्रात्तिमवाप्तये चित्तानुरंजननाय च साहित्यसंगीतादयः संसेवन्ते। यथोक्त–

काव्यशास्त्रविनोदेन कालः गच्छति धीमतामिति।

चित्तं राति इति व्युत्पत्या चित्रपदस्येव मनोविनोदनाय सार्थकता। शब्दतूलिकयाकविरसौनिर्माति स्वकाव्यसंसारः यथा ध्वनिकारः–

अपारे काव्यसंसारे कविरेक प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते इति।

साहित्यशास्त्रपरम्पराया आचार्याणाम् चित्रस्य विषये का मान्यता? काव्यचित्रेषु केषा परिगणम् चित्रस्य अलंकारतया स्वीकृतिः उचिता नवा? अलंकारस्यापि कस्मिन्वर्गे अस्य सन्निवेशः? अस्ति चित्रस्यशब्दालंकारता न वा?

चास्य के लक्षणग्रन्थाः लक्ष्यग्रन्थाश्च इति सर्वमनुशीलनम् वर्तते शोधपत्रेऽस्मिन्।

1. किन्नाम चित्रम्–

श्रुतिषु बहुधा दृश्यते शब्दस्यास्य प्रयोगः।

तत्र 1. अद्भुत, 2. आश्चर्यम्, 3. नानाविधम्, 4. अनेकम्, 5. प्रभूतम्, 6. दीप्तिमत् 7. उत्कृष्टम्, 8. शबलम्, 9. दर्शनीयम्, 10. आलेख्यम् आद्यर्थेषु दृश्यतेऽस्य प्रयोगः।

1. **अद्भुतम्**– अमूरा विश्वा वृष्णाविमा वां न याजु चित्रम् दहशे न यक्षम्। (ऋ0सं0 7/6 1/5) सातवलेकर।
2. **नानाविघम**– उषाअदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनुप्रसूता।
3. **अनेकम्**– चित्रैरञ्जिज भिवपुषे व्यत्रृजते वक्षःसु रूक्मॉ अधियेतिरे शुभे। (1/64/4) इत्यादयः।

लौकिक वाप्रमयेऽपि 1. विविध वर्णयुक्त, 2. आलेख्यम्, 3. अद्भुतं चमत्कारजनक वा, 4. उज्ज्वल भास्वरं वा 5. मधुरम्, 6. उद्वेगकरम् इत्यादय अर्थाः प्रायेणास्य दृश्यन्ते।

1. शबलम्– मृगं...... चित्रोरजतविन्दुभिः। (वा0रा0)
2. आलेख्यम्– चित्रे निवेश्यपरिकल्पित् सत्वयोगा0 (माघ काव्ये 2.9)
3. किमत्रचित्र यदि कामसूर्भूः (रघु0 5.53)
4. उज्ज्वल भास्वरवा–

चित्रधातुविचित्राद्रीनिभभग्नभुजहुमान्।
जलाशयाञ्छिवजलान्नलिनीः सुरसेविता।।

चित्रस्यविषये आचार्यणाम्मतानि–

भरतादाभ्यस्वीक्रियते प्राधान्येन साहित्याचार्याणां परम्परा। भरतेन तु यमकप्रभेदेषु एवास परिगणन कृतः नु पुनः पृथक् निर्देशितः। भामहोऽपि भरतमेवानुसति प्रसप्रेऽस्मिन्। दण्डिना दुस्करगोमूत्रिकादि चित्रालंकारणाम् वर्णनं कृतं किन्तु तत्रापि स्वतंत्रलक्षणाभावः यथा दण्डी–

शब्दार्थालङ्क्रियाश्चित्रमार्गा सुकरदुष्कराः।।

उद्भटस्याप्यत्रोप्तसीमवृत्तिः। वामनाचार्योपि यमकमेव वर्णयति। अतः रुद्रटस्येव प्रथमतय व्यवस्थापित चित्रालंकारस्य वर्णने श्रेयः। पत्र्चशब्दालंकारेषु अस्त्यास्यगणना रुद्रटस्य काव्यालका यथा–

वक्रोक्तिनुप्रासो यमकं श्लेषस्तया पर चित्रम्। शब्दालंकाराः।

चित्रालंकारस्यलक्षणमपि तेनाकारि यथा–

भप्रयन्तरकृततत्क्रमवर्णानिर्मितानि वस्तुरूपाणि।
साऽनि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम्।।

अत्र रुद्रटस्यटीकाकारेण नमिसाधुना स्वटीकायां यथा–

यत्रकाव्येवस्तूनां चक्रादीनां रूपाणि संस्थानानि रच्यन्ते निबध्यते तच्चि सादृश्यादाश्चर्याद्वा चित्रं नामालंकारः। काव्ये कथं वस्तु रूपाणिरच्यन्ते इतिप्रश विशेषणद्वारेण युक्तिमाह– भप्रयचन्तरेण चक्रादि विच्छितिलक्षणेन प्रकारेण कृतः सकललोक प्रसिद्धः क्रमो रचना परिपाटी येषां च ते च ते वर्णाध्याक्षरेणि चते निमि कारणं येषां वस्तुरूपाणां तानि यथोक्तानि। तथा सहोऽन स्वनामचिह्नेन वर्तन्तइ साऽनि। तथा विचित्राणि चान्यानि च सर्वतोभद्रानुलोमप्रतिलोमादीनि।

ध्वनिकारोऽपि वाच्यवाचकवैचित्रमात्रेण निबद्धालेख्यस्वरूपं रसभावादितात्पर्यहीनं व्यप्रार्थशून्यं च तच शब्दार्थभेदेनद्विधा यत्ताच्चित्रम यथा–

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यप्रस्थैवं व्यवस्थिते
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्राभिधीयते।।
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्रकिञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्।
रसभावादि विषय विवक्षा विरहेसति।
अलंकार निबन्धो यः सचित्र विषयोमतः।।

राजशेखरेणापि चित्रस्योत्पत्ति चित्राप्रदात् यथा–

चित्रंचित्राप्रदः।

अग्निपुराणेऽपि शब्दालंकारेषु नवसंख्यकेषु चित्रं दुष्करमिति स्वीकृतः। तथा च गोष्ठि कुतूहलोत्पादकत्वेनोल्लेखितः यथा–

वाकोवाक्यमनुप्रसाश्चित्रं दुष्करमेव च।
ज्ञेया नवालंकृतयः शब्दानामित्यसंकरात्।।
गोष्ठया कुतूहलाध्यायी वाग्बन्धश्चित्र मुच्यते।।

अत्रैवोक्तं यदस्य रचना तु कष्टेन जायते तथापि कवेः सामर्थ्यसूचनं भवति विदग्धजनानां महोत्सवः जायते यथा–

दुःखेन कृतमत्यर्थे कविसामर्थ्यसूचकम्।
दुष्करं नीरसत्वेऽपि विदग्धानामहोत्सवः।।

भोजस्तु चित्रलक्षणं स्पष्टीकरोति प्रतिपादयतिच वर्णस्वकारगति बन्धाना नियमनं चित्रम् यथा–

वर्णस्थान स्वराकारगतिबन्धान् प्रतीह यः।
नियमस्तद् बुधैः षोढा चित्रमित्यभिधीयते।।

मम्मटाचार्यस्तु वर्णानां यत्र खण्ड्गाद्याचाकृति हेतुता भवति तच्चित्रम् यथा–

तच्चित्रं यत्रवर्णानां खण्डगाद्याकृति हेतुता।

रुय्यकोऽपि मम्मटमनुसरति तथास्य औपचारिकी शब्दालकास्ता प्रतिपादयति यथा–

वर्णानां खण्ड्गाद्याकृतिहेतुत्वेचित्रम्।

सौनरुक्त्यप्रस्तावे स्लान विशेषश्लिस्ट पौनरुक्त्यात्मकं चित्रवचनम्। यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेत वर्णात्म शब्दाभेदेन तेषां लोकं प्रतीतेर्वाचकः शब्दालप्रारोऽयम्।

हेमचन्द्रेण तु संज्ञामात्रेणैव कृतं न पुनलक्षणम् यथा–

स्वरव्यञ्जन स्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादिचित्रम्।।

शोभाकर मिश्रेणापि पद्याकारादि लिपिवर्णानां चित्रसंज्ञाकृता स्पष्टीकृताश्च नियमितस्थान– संन्निवेशेन प्रतिलोमानुलोमादिना आश्चर्यमुत्पादयन्ति तानि चित्राणि यथा–

पद्मादि लिपि वर्णवच्चित्रम्।।

प्रसप्रेऽस्मिन् विश्वनाथस्तु रुय्यकानुयायित्वमप्री करोति यथा–

पद्माधाकार हेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।

औचारिकी शब्दालंकारता चास्य मनुते यथा–

अपि च तथा विधलिपिसंन्निवेशवशेनचमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायविशेषवशेनचमत्कार विधायिभिर्वर्णैभेदेनोप चाराच्छब्दालंकारत्वम्।।

अस्तिचित्रालंकारस्य शब्दालंकारता न वा–

साहित्यशास्त्रेऽलंकार शास्त्रे वा शब्दालंकारस्य यानितत्वानि अप्रीकृतानि वर्तन्ते तानि सर्वाण्येव चित्रालंकारे दृग्गोचरीभवन्ति। यथा शब्दालंकारस्य तत्वानि–

3– शब्दचमत्कृतेः प्राधान्यम्।
2– शब्दपरिवृत्त्यसहिष्णुत्वम्।
3– स्वरव्यञ्जनपदनां कश्चिदेकस्य वाललितविन्यास।
4– वर्णकौतूहलक्रीडादिसम्पन्नत्वम्।

तथैव चित्रालंकारस्यापि भवतीति। यथा–

3–चित्ताकर्षणत्वम्, 2–विन्यासवैचित्र्यम्, 3–विस्मयकारित्वम्, 4–वाच्यवाचक वैचित्र्यम्, 5–कौतूहलोत्पादक वाग्बन्धत्वम्, 6– वर्णादिनियमनम् इत्यादयः। अतएव कथितुं शक्यते यत् चित्रालंकारस्यास्ति शब्दालऽारता।

4. चित्रालंकारस्य भेदाः –

चित्रालंकाराणांतु भेदगणनाया असमर्थाः काव्य लक्षणकर्त्तारः दृश्यन्ते। यथा रुद्रटः

यन्नाम नामयत् स्यात् तत्त्वदाकृतिर्लक्षणं मतं तस्य।
तल्लक्ष्यमैव दृष्ट्वाऽवधार्यमखिलं तदन्यदपि।।

तथापि परवर्तिभिः चित्रकाव्य विवेचकैः षड्वर्गेषु विभक्तं यथा–

1. मप्रलात्मक चित्राणि।
2. वनवैभवात्मक चित्राणि।
3. आभरण–चित्राणि।
4. शास्त्रास्त्र चित्राणि।
5. प्राणि चित्राणि।
6. प्रकीर्ण चित्राणि।

4.1 तत्र मप्रलात्मक चित्रकाव्येषु यथा–

1. ओऽरबन्धः
2. आसनबन्धः
3. कलशबन्धः
4. भृप्रारबन्धः
5. चन्द्रबन्धः
6. चामारबन्धः
7. छत्रबन्धः
8. तिलकबन्धः
9. दर्पणबन्धः
10. ध्वजबन्धः
11. मत्स्ययुगलबन्धः
12. शींबन्ध :
13. श्रीबन्धः
14. सूर्यबन्धः
15. स्वास्तिकबन्धः। इत्यादयः।

4.2 वनवैभवात्मकचित्रेषु यथा–

3. कमलबन्धः, 2. गुच्छबन्धः, 3. मेरुबन्धः, 4. लताबन्धः, 5. वृक्षबन्धः इत्यादयः।

4.4 शस्त्रास्य चित्रबन्धाः यथा–

1. अऽशबन्धः
2. खप्रबन्धः
3. क्षुरिकाबन्धः
4. गदाबन्धः
5. चक्रबन्धः
6. द्विश्रंगाटकबन्धः
7. व्योमबन्धः
8. ढालबन्धः
9. तूणबन्धः
10. त्रिशूलबन्धः
11. दण्डबन्धः
12. धनुर्बन्धः
13. नागपाशबन्धः
14. परशुबन्धः
15. मुसलबन्धः
16. वज्रबन्धः
17. शक्तिबन्धः
18. शरबन्धः
19. हलबन्धः इत्यादयः।

4.5 प्राणिचित्रबन्धेषु यथा–

1. गजबन्धः
2. गोबन्धः
3. नागबन्धः
4. मत्स्यबन्धः
5. वाजिबन्धः इत्यादयः।

4.6 प्रकीर्णचित्रबन्धेषु यथा–

1. अर्धभ्रमबन्धः
2. उलूखलबन्धः
3. कमण्डलुबन्धः
4. कास्यतलबन्धः
5. गवांक्षबन्धः
6. गोमूत्रिकाबन्धः
7. चतुष्पदबन्धः
8. छिद्रबन्धः
9. उमरूबन्धः
10. तालवृन्तबन्धः
11. निःसालबन्धः
12. मन्थानजातिबन्धः
13. मुरजबन्धः
14. मृदंगबन्धः
15. यानबन्धः
16. श्रीपत्रऋचबन्ध
17. शृींलाबन्धः
18. सर्वतोभ्रदबन्धः इत्यादयः।

5. लक्ष्यग्रन्थेषु चित्रबन्धास्य इतिहासदृशा परीक्षणम्–

यथा निद्रिर्ष्टं पूर्वमेव चित्रबन्धस्य प्रयोगः श्रुतिषु अष्टविकृतिपाठेषु च। रामायणे महाभारतेऽपि लभ्यते यत्रतत्र चित्रबन्धस्य संरचना।

महाकाव्येषु सर्वप्रथमचित्रबन्धस्यास्य प्रयोक्ता भारविः। किरातार्जुनीये पञ्चदशसर्गे एकाक्षरपादगोमूत्रिकाप्रतिलोमानुलोम्पादैकव्यञ्जनपद्यसर्वतोभद्रा र्धभ्रमकनिरोष्ठ्यगूढचतुर्थपादादीनां प्रयोगं चमत्कारमुपजनयति। माघेन शिशुपालवधे ऊनविशतिसर्गे भारविमप्यतिरिच्यते। समन्तभद्राचार्यस्य स्त्रोत्रसाहित्ये,जिनशतके आनन्दवर्धनाचार्यस्य देवीशतके गतिचित्रबन्धानाम् अनेकोदाहरणानि प्राप्यन्ते।

शिवस्वामिकृत कफ्फणाभ्युदये अष्टादशोनविशतितमेसर्गे, हरिश्चन्द्रस्य धर्मशर्माभ्युदये एकोनविंशतिसर्गे, वेदान्तदेशिकस्य यादवाभ्युदये षष्ठसर्गे, वस्तुपालस्य नरनारायणानन्दे चतुद्रशसर्गे, वेऽटाध्वरेः लक्ष्मीसहस्त्रे द्वाविंशतितमेसर्गे मोहनभट्टस्य कंसवधे त्रिंशततमे सर्गे, दिग्विजयमहाकाव्ये सप्तमसर्गे, हरिदासस्य रुक्मिणीहरणे पञ्चदशसर्गे मथुरानाथस्य जयपुरवैभवे अभिनन्दनवीथसर्गे सम्पूर्णसर्गाः एव चित्रबन्धमयाः दृश्यन्ते।

स्वतंत्रकाव्यग्रन्थाः अपि वर्तन्ते यथा–

दामोदरशास्त्रिणः चित्रबन्धकाव्यम्, रामरूपपाठकस्य चित्रकाव्यकौतुकम्, गप्राधरकवेः चित्रमञ्जूषायाम्, वेऽटेश्वर कवेः चित्रबन्धरामायणम्, श्रीनरसिंहस्य–बन्धकौमुदी, जीवन्यायतीर्थस्य सारस्वतशतकम्।

चित्रबन्धस्य स्त्रोत्रकाव्यग्रन्थाः यथा–

अवतार कवेः ईश्वरशतकम्, जयसागरोपाध्यायस्य विज्ञप्तित्रिवेणी जगद्धरस्य स्तुतिकुसुमाञ्जलिः, स्वामीलक्ष्मण शास्त्रिणः श्रीविष्णचरितामृतम्, जिनवल्लभस्य प्रशशतकम् इत्यादयः ग्रन्थाः सन्ति।

संदर्भ

1. श्रीमद्भागवते 1.6.12
2. काव्यादर्श दण्डी 3/81
3. काव्यालंकार रुद्रट 2/311 निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई काव्य माला सीरिज, 1886
4. काव्यालंकार रुद्रट 5/1 निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई काव्य माला सीरिज, 1886
5. नमिसाधु टिप्पणटीका निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई काव्य माला सीरिज, 1886
6. ध्वन्यालोक 3–41–43 आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, कालिदास संस्थान, वाराणसी।
7. काव्यमीमांसा अ0 1, राजशेखर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
8. अग्निपुराण 1.384–20, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
9. अग्निपुराण 1.343–22, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
10. अग्निपुराण 1.343.3211, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
11. सरस्वतीकण्ठाभरणम् 2/109, भोजराज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
12. काव्य प्रकाश 9–82, आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1981.
13. अलंकार सर्वस्व पृ0 30, आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
14. अलंकार सर्वस्व पृ0 30, आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
15. काव्य अनुशासन 5–4, हेमचन्द्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।

16. अलंकाररत्नाकर 6, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
17. साहित्यदर्पण 90–93, लक्ष्मी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
18. साहित्यदर्पण, लक्ष्मी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
19. काव्यालंकार रुद्रट 5/5, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई काव्य माला सीरिज, 1886
20. संस्कृत साहित्य में शब्दालंकार–रुद्रदेव त्रिपाठी संस्कृत विद्यापीठ, पुष्पमाला–9 (1972)

*****

वेदांगज्योतिषे सूर्यविमर्शः

गणेश त्रिपाठी
(शोध छात्र) S.R.F.
ज्योतिष विभाग (सं.वि.ध.वि.सङ्काय)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी
ईमेल gtripathi14@gmail.com

आदित्यो ह्यादिभूतत्वात् प्रसूत्या सूर्य उच्यते।
परं ज्योतिस्तमः पारे सूर्योऽयं सवितेति च।।

अनया सूर्यसिद्धान्तोक्त्या भगवान् सूर्य एव सर्वतः आदिभूतत्वात् समेषां चराचरप्राणीनाम् आधारभूतः वर्तते, स च सूर्यः स्वपारलौकिकगुणविशेषताभिः बहुधाभिः दिनकरः, सविता, आदित्यादिः विविधनामभिः जगति प्रसिद्धोऽस्ति।

''आदित्यो हि वै प्राणाः'', ''सूर्य आत्मा जगतसास्थुषश्च''।

इत्यादि श्रुतिवचनात् तेजोमयो भगवान् अव्ययो मुक्तिमार्गो रविरीश्वरः सर्वाणि भूतानि भावयन् जगत् ज्यौतिषमन्तं करोति। आर्षे एव अस्य पर्यटनमपि आह यत् ब्रह्माण्डात्मके रथे सँव्वत्सरात्मकं चक्रं निरूप्य गायत्र्युष्णिगादि सप्ताश्वैः नित्यं भुवनेषु पर्यटति वेदाङ्गेषु नेत्रत्वं भजत् ज्यौतिषशास्त्रेऽपि सूर्यस्य परमं महत्त्वं वर्तते। अतएव ज्यौतिषं सूर्यादिग्रहाणां बोधकशास्त्रत्वेन मन्यते। आचार्यलगध अपि स्वकीये वेदाङ्ग ज्यौतिषनामकग्रन्थे ज्यौतिषशास्त्रस्यास्य प्रत्यक्षतामनेनैव साधयति यथा–

अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तषु केवलम्,
प्रत्यक्षं ज्यौतिषं शास्त्रं चन्द्राकौ यत्र साक्षिणौ।

अर्थात् अन्येषु व्याकरणादिषु शास्त्रेषु तु प्रत्यक्षाभावात् विवाद एव दृश्यते परन्तु ग्रहाणामुदयास्तग्रहणादिदर्शनेन ज्यौतिषं प्रत्यक्षशास्त्रं वर्तते। अस्य अष्टादश प्रवर्तकेषु अपि सूर्य एव सर्वादौ अस्ति यथा–

सूर्यः पितामहो व्यासो वशिष्ठोऽत्रि पराशरः
कश्यपोनारदोगर्गी मरीचिमनुरङ्गिरा।
लोमशःपौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः
शौनकोऽष्टादश ह्येते ज्योतिशास्त्रप्रवर्त्तकाः।।

अथ ज्योतिशास्त्रे सिद्धान्तफलितदृष्ट्या सूर्यस्य विविधपक्षाः प्रस्तुयन्ते सिद्धान्तपक्षः सूर्यः प्रतिदिनमुदेति अस्ताचलं च गच्छति, ग्रहणं, ऋतवः, विविधदेशानां विविधकालावस्थिति इत्यादीन् नैकविस्मयान् दृष्ट्वा जनाः खगोलस्य, सूर्यस्य विषये च ज्ञातुं प्रभवन्तः, कालातिक्रमेण अस्मिन् क्षेत्रे बहुनि अनुसन्धानानि जातानि बहवः निष्कर्षाश्च प्रस्तुताः एवञ्चा अद्यापि एतत् कार्यं प्रचलत् अस्ति।

सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।।

इत्यादिभि ऋचाभिः ज्ञायते यत् सूर्योत्पत्तिः परब्रह्मणः इच्छाशक्तया बभूव। ज्यौतिष शास्त्रीय सूर्यसिद्धान्त नामके ग्रन्थेऽपि उल्लिखितं यथा

अथ सृष्ट्यां मनश्चर्क्रे बह्माहंकांरमूर्तिभृत
मनश्चन्द्रमा यज्ञे सूर्योऽक्ष्णोतेजसां निधिः।।

पुनश्च प्राच्यानां ज्यौतिषंज्ञानां मते सूर्यः देवतांशभूत ग्रहरूपेण मन्यते स्म यथोक्तं वराहमिहेर **'मूर्तित्वे परिकल्पितः शशभृतो वर्त्मापुनर्जन्मनाम्'**[8] परन्त्वाधुना खगोलविज्ञानिनां मते हीलियम–हाइड्रोजनादि–गैसीयतत्वानां अत्यधिक संघटनेन सूर्योत्पत्तिः जाता इति स्वीक्रियते आधुनिकैः सूर्यः तारकत्त्वेनापि मन्यते यस्य परितः अस्य सौरमण्डलस्य अष्टौ ग्रह दीर्घवृत्ताकारककक्ष्यायां भ्रमन्ति। यतोहि प्राचीनकाले धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयेषु धर्मस्यैव प्राधान्यत्वा प्रायशः सर्वेऽपि सिद्धान्ताः धर्माधारिताः भवन्ति स्म अनेन सूर्यस्य विषयेऽपि नैकमतानि प्रचलिता परन्तु साम्प्रतिके यथा धर्मस्य ह्रासः जायमान अस्ति तथा तथा जनाः तेषां सिद्धातानां कारणा जिगमिषन्ति तत्र कालातिशयात् बहूनि कारणानि विलुप्तानि तस्मादेव पाश्चात्याः सनातने ध सूर्यरश्मीविश्लेषणादियन्त्राणां माध्यमेनेतोऽपि विशद्तया सूर्यविषयकं ज्ञानं सम्भवति। सूर्यसिद्धान्तेऽ सूर्यबिम्बस्य प्रमाणविषये लिखितं यत्।

''सार्धानि षट्सहस्राणि योजनानि विवस्वतः''

अर्थात् सूर्यस्य बिम्बप्रमाणं पञ्चाषष्ट्याधिकषट्सहत्रयोजनमितमस्ति। सूर्यस्यकैक्षिकपरिक्रमणगति ए सैकण्डमितकाले एकपञ्चाशताधिकद्विशतकिलोमीटरमितमस्ति। सूर्यस्य प्रकाशः सार्धाष्टनिमि पृथिव्यामापतति अस्य ऊर्जाशतांशस्य भागद्वयमेव भूयो पतति येन पादपेषु प्रकाशसंश्लेषणादि क्रिय भवन्ति। सामान्यतः वैज्ञानिकैः भुवः सूर्यस्य दूरत्वम् 14,9600000 किलोमीटरमितं परिकप्यते यत अस्माकं वैदिकवाङ्मयेऽपि सूर्यरथवर्णनप्रसङ्गे सूर्यमण्डलप्रसङ्गे, सूर्यरश्मीनां विश्लेषणे यथा सूर्यस संयद्वसवादयः सप्तरश्मयः सन्ति सूर्यमण्डलं नवसहस्रयोजनविस्तृतमस्तिः एतादृश्यानि बहुनिप्रमाणा उपलभ्यन्ते अत एव प्राच्ये जनाः सिद्धान्तान धर्मेण संयोज्य तेषु दृढ़ा भवन्ति स्म। इमे एव सिद्धान्त अर्वाचीनविज्ञानस्य आश्रयभूता अपि सन्ति। ज्योतिषैतेषां सिद्धान्तानामाश्रयीभूतः सूर्यः वर्तते। अस्यै प्राधान्यत्त्वात् कालगणनाक्रमे प्रथमवारः रविवारः स्वीकृतः।

लंकानगर्यामुदयाच्च भानोः तस्यैववारे प्रथमं बभूव।
मधोसितादेद्रिनमासवर्षयुगादिकानां युगपत्प्रवृत्तिः।।

ज्योतिषं कालविधायकशास्त्रमस्ति अत अत्र सूर्यस्यापि महत्ता वरिवर्ति, सूर्येणैव काल नियम्यते सूर्यसम्बन्धिसावनदिनस्यैव प्रत्यक्षत्वात् गृहस्पष्टीकरणस्यादिमः क्रमः अहर्गणः सावनात्मव स्वीक्रियते।

अथ भारतीय ज्यौतिषशास्त्रे गणितपरम्परायां ग्रहाणां स्फुटीकरणविषये विशेषेण बलं प्रदत्तमस भास्कराचार्येण उल्लिखितं यत्

यात्रा विवाहोत्सवजातकादौ,
खेटैस्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्।
स्यात् प्रोच्यते तेन नभश्चराणां
स्फुटक्रिया दृक्गणितैक्य कृद्याः।।

अर्थात् फलस्यस्फुटत्वं सम्यक् गृहस्पष्टसत्येव सम्भवति नान्यथा यतः ग्रहाणां स्फुटीकर नैके संस्काराः विधीयन्ते परन्तु सूर्यचन्द्रौ मन्दफलसंस्कारेणैव स्फुटौ भवतः। आर्षे आह यथा– ''मान

कर्मैकमर्केद्वो" पुनश्च किमर्थमिदं मन्दफलं तदुच्यते यत् ग्रहभ्रमणवृत्तस्यकेन्द्रं भूकेन्द्रं नास्ति अपि तु अन्तफलज्यातुल्य चापान्तरे अन्यत्र एतस्य केन्द्र विद्यते अनेनैव मध्यमस्फुटग्रहयोः अन्तरमुत्पद्यते यञ्चा मन्दफलाख्यम्। एतत् मन्दनीचोञ्चस्थाने शून्यसमं, कक्षामध्यगतिर्यग्रेखोपरि प्रतिवृत्तसम्पाते परमं भवति गणेशनास्य परमत्वमाह यथा–

सूर्यमन्दोञ्चामष्टाद्रयोंशाः भवेत्

बहुत्र न विश्वसन्ति। अत्र ग्राहको यद ग्राह्यं वस्तु ग्रह्णानाति तदेव ग्रहणं सूर्यग्रहणे सूर्यः छाद्यः चन्द्रश्च छादको भवति इदं सूर्यग्रहणं शराभाव्यमायां सम्भवति यदा सपातसायनसूर्यस्य भुजांशकाः चतुदर्शभिः अंक्षैः न्यूनाः भवन्ति तत्र ग्रहलाघवकारेण अपि "**इन्द्राल्पे सम्भवोज्ञेयो दशाल्पे निश्चयोमतः**" अनेनापाठि पुनश्च भास्करोऽपाह यत् "**मनुनकाः स्यात् ग्रहणस्य सम्भवः।**"

इदं सूर्यग्रहणं त्रिधा भवति–

1. खण्डग्रहणं
2. खग्रासग्रहणं
3. वलयग्रहणञ्चा

तत्र खण्डाछणेग्रहणे स्पर्शमध्यमोक्षश्चेति त्रिस्त्रः स्थितयः भवन्ति पूर्णग्रहणेः च स्पर्शसमीलनमध्योन्मीलनमोक्षश्च पञ्चास्थितयः भवन्ति। यतः सूर्यग्रहणे ग्राह्यग्राहकयोः कक्षाभेद अस्ति अत अत्र लम्बननत्योः विशेषसंस्कारोऽपि विधीयते। "**कक्षाभेदादिहखलु नतिर्लम्बनं चोपपन्नम्**"। कक्ष्यैकत्वात् चन्द्रग्रहणं तु सार्वत्रिकं परन्तु सूर्यग्रहणं तथा न अत्र भिन्नकक्षत्वात् परिलेखोऽपि भिन्नतया निर्मीयते अस्मिन् स्पर्शः पश्चिदिक्षिमोमोक्षश्चपूर्वदिशि भवति पुनश्च सूर्यकराणां तेजसः कलात्रयग्रस्ते सत्यपि सूर्यग्रहणं न दृश्यते यथा आर्षवचनं **लितात्रयमपि ग्रस्तं तीक्ष्णत्वाच्च विवस्वतः।** धर्मशास्त्रीणां मतेऽपि अस्य ग्रहणस्य बहुमहत्त्वं वर्तते तस्मादेव सिद्धान्तशिरोमणौ उक्तं यत्–

बहुफलं जपदान हुतादिके,
स्मृतिपुराणविदः प्रवदन्ति हि।
सदुपयोगि जने संचमत्कृति,
ग्रहणमिन्द्विद्वयोः कथमाम्यतः।।

इत्थं सूर्यगोलस्य सिद्धानाज्योतिषदृष्ट्या वैज्ञानिकं पर्यालोचनेन च ज्ञायते यत् सूर्य एव समेषां प्राणभूतः प्रकाशकश्चास्ति उक्तमपि कमलाकरेण यथा–

तेजसां गोलक सूर्यो ग्रहर्क्षाण्म्बुगोलकाः
प्रभावन्तो हि दृश्यन्ते सूर्यरश्मीप्रदीपिताः।।

एवं प्रकारेण वयं पश्यामो यत् किदृशं वेदांगज्योतिषमस्ति। यत्र खलु सूर्य एव सर्वग्रहनक्षत्रतारकादीनां ज्योतिःपिण्डानां आश्रयोभूतः ग्रहः विद्यते। सूर्यः तारकारूपेणापि ज्योतिषे प्रतिष्ठितमस्ति यतः सैव सर्वान् ग्रहान् प्रकाशयति। अत एवोच्यते **सूर्यः आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति।**

सन्दर्भ

1. सू0सि0 गो0 15/16
2. ऋ0 1/115/1
3. लगध ज्यौतिषम्
4. ऋ0 10/18/3
5. ऋ0/90/13
6. सिद्धान्तशिरोमणिः

* * * * *

नाट्यशास्त्र में संगीत

श्वेता कुमारी
शोध छात्रा
संगीत एवं मंचकला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

भारतीय संगीत के इतिहास में संगीत सम्बन्धी तत्त्वों की विवेचना करने वाला सबसे प्राचीनतम् ग्रंथ भरतकृत नाट्यशास्त्र ही माना जाता है यों तो इसके पूर्व भी अनेक स्थलों पर संगीत सम्बन्धी तत्व प्राप्त हुए हैं किन्तु क्रमबद्धता के अभाव के कारण समस्त सामग्री अव्यस्थित रही। जिस कारण नाट्यशास्त्र ही भारत का पहला प्राचीन नाट्यकला का विस्तृत वर्णन करने वाला एक मात्र ग्रंथ रहा है। इसे पंचमवेद अर्थात् गांधर्व वेद के रुप में भी सम्मानित किया गया है। इस ग्रंथ के काल के बारे में काफी मतभेद है किन्तु शास्त्रयों के अनुसार इसे तीसरी या चौथी शताब्दी का ग्रन्थ माना जाता है। भरतकृत नाट्यशास्त्र भारतीय संगीत की अनुपम व अद्वितीय देन है। इसके अलावा इसे नाट्यशास्त्र, योगशास्त्र व मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है।

श्रुति सम्मत अति सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक विवेचन के कारण यह नाट्यशास्त्र कहलाता है। इसे मोक्षशास्त्र इसलिए कहते है क्योंकि अनहद संगीत एवं स्वयं नृत्य के योग को सर्वोत्तम कारण है।

इस प्रकार भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय साहित्य तथा संगीत का वृहदकोष है। प्रायः अधिकतर लोगों को यह भ्रान्ति हो जाती है कि नाट्यशास्त्र केवल नाट्य का विवेचन करने वाला ग्रंथ है किन्तु भरतमुनि ने संगीत को नाट्य का आधार बतलाते हुए इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए कहा है कि नाटक में पहले गीत के प्रयोग द्वारा ही प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि विज्ञजनों ने गीत को नाटक की शय्या कहा है और गीत तथा वाद्य के सम्मिलित प्रयोग से ही नाटक सफल होता है इसमें किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं आती है।

इस तरह संगीत विहीन नाट्य उसी प्रकार है जिस प्रकार प्रावविहीन शरीर भरतमुनि ने अपने इस ग्रंथ में संगीत के तत्त्वों की इतनी बृहद विवेचना की है जिसका कोई रुप नहीं है। रस, छन्द, भाषा, वेषभूषा, रंगमंच अभिनय वाद्य, संगीत तथा नृत्य मे से ऐसा कोई विषय नहीं, जिसका विवरण भरत ने इस ग्रंथ में नहीं किया हो। शायद इसलिए हि भरतमुनि ने कहा है कि कोई ऐसा ज्ञान शिल्प, कला, विधा, योग या कर्म नहीं हैं जो नाट्य में ना दिखाई देता है। वस्तुतः इन सबका सम्मिलित रुप ही नाट्य है। शायद इसलिए पाश्चात्य देशों की तरह हमारे यहाँ अलग से कोई रस शास्त्र नहीं बना या और कही कि उत्तर भारतीय संगीत के शास्त्रों ने ऐसी कमी ही नहीं महसूस की और ना आवश्यकता ही समझी।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र आत्म और कला का ऐसा विश्वकोश है जो भलीभाँति परिपूर्ण है। इस ग्रंथ के 37वें अध्याय में भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम इतिहास के रहस्य छिपे हुए हैं तथा भारतीय धर्म व दर्शन की कहानी सजी हुई है। भरत मुनि ने अपने इस ग्रंथ में नाट्य अर्थात् अभिनय व गान्धर्व अर्थात् जो कि संगीत की तीनों विद्याओं में निपुण होते थे का वर्णन किया है। भरत के अनुसार नट् का कार्य ऐसे नाट्य का प्रयोग करना है, जो चतुर्विध वाद्यों के सशास्त्र प्रयोग से युक्त हो।

यथा :— ततं चैलावनद्धं च धनं सुषिरमेल च।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्।।

भरत ने आतोद्य के लक्षण व वाद्यों के प्रकार को बताते हुए तत् वाद्य, अवनद्ध वाद्य, घ वाद्य व सुषिर वाद्य की विवेचना की है। इस ग्रंथ में तत् व सुषिर अर्थात् वीणा व वेणु स्वर वा तथा अवनद्ध व घन ताल वाद्यों की भरत ने वृहद विवेचना की है। वाद्य प्रयोग प्रायः नाटक के स्व योजना के अर्थ में किया हैं साथ ही इसके व्यापक अर्थ का ध्यान रखते हुए गायन आदि क उल्लेख भी इसके अंतर्गत किया है। क्योंकि कंठ व वाद्य दोनों से स्वर उत्पन्न होते है इसलिए स्व को प्रमाणिक माप के लिए वाद्य का आधार महत्वपूर्ण होता है।

इस प्रकार वाद्यों को संगीत के लिए महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए भरत ने वाद्य वृंद का 'कुतुप की संज्ञा दी है। कुतुप का सामान्य अर्थ हैं— वाद्यों का सामूहिक वादन। नाट्य के प्रारम्भ विधि—विधान के साथ कुतुप की पूजा की जाती थी तथा विभिन्न गीतों के अवसर पर कुतुप व विन्यास पर ध्यान दिया जाता था। भरत ने 3 प्रकार के कुतुप नाट्यकुतुप इसके अतिरिक्त भरत गान्धर्व गान का भी उल्लेख किया है। गान्धर्व मुख्य रुप से गीत का बोधक है, जो स्वर तथा ता से समन्वित पद समूह पर आश्रित होता है।

गान्धर्व त्रिविधं विद्यात् स्वरताल पदात्मकम्

भरत के अनुसार नृत्यकला को छोड़कर गान्धर्व में वाद्य वादन का समावेश होता है। भर मुनि ने गान्धर्व संगीत की विशेषताएँ तथा उनके प्रकारों की सम्पूर्ण व्याख्या इस ग्रंथ में की है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में नाट्य की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अंत तक संगीत का प्रयो बार—बार होता रहा है।

नाट्य के अंतर्गत ध्रुवा तथा गीतक नामक गीतो का विशिष्ट प्रयोग रहा है। गीतक क प्रयोग पूर्वरंग में तथा ध्रुवा का प्रयोग नाट्य के बीच—बीच में रंजकता बढ़ाने के लिए किया जात है। इसके अलावा भरत ने 4 गीति मागधी अर्द्धमागधी, सम्भाविता तथा पृथुला का भी वर्णन किय है।

नाट्य के सम्बन्ध में भरतकृत नाट्यशास्त्र में यह उल्लेख है कि ऋग्वेद से पाठ्य, सामवे से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अर्थवेद से रस लेकर ब्रह्मा जी ने पंचम वेद नाट्यवेद की रचन की। भरत के अनुसार नाट्य के 4 तत्त्व, पाठ्य गीत, अभिनय व रस माने जाते है।

इसमें पाठ्य के अंतरगत नाट्य की कथा, संवाद व कथन आदि पदांश आते हैं, गीत स्वर—ताल से सम्बन्धित विषयं समाविष्ट हो जाते है। तथा अभिनय 4 प्रकार के बताए गए हैं- आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य। आंगिकाभिनय में शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा की जा वाली चेष्टाएं तथा वाचिक में वाणी से सम्बन्धित अभिनय व सात्विक में सत्व से उत्पन्न होने व कारण— अश्रु, पुलक, कम्प, त्रैवर्ण्य, स्वेद, स्तम्भ, स्वर—भंग और मूर्च्छा— ये 8 सात्विक भाव ज्ञा हैं। इसके अलावा नट के वस्त्राभूषण, रंगमंच की साज—सज्जा आहार्य अभिनय है। रस को नाट का चौथा व अंतिम लक्ष्य कहा गया है। नाट्य शब्द का प्रधान अर्थ ही रस है। भरत मुनि ने नाट शास्त्र में 8 प्रकार के रसों की व्याख्या की है, जो इस प्रकार है— श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वी भयानक, वीभत्स व अद्भूत।

''शृंगार–हास्य–करूण–रौद्रवीर भयानकाः।
वीभत्साभूत......अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।

इस प्रकार चतुर्विध अभिनय द्वारा मनुष्य जीवन के अनुकरण से रस–बोध कराकर मनुष्य को ऊँचा उठाना, यही नाट्य का मूल उद्देश्य है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भरत का नाट्यशास्त्र जो गान्धर्व वेद व पंचमवेद माना जाता है वह संगीत के रसो से ओत–प्रोत हैं। भरत मुनि ने नाट्य की सफलता के लिए संगीत को महत्वपूर्ण माना हैं सच ही हैं कि संगीत के बिना नाट्य की प्रस्तुति नीरस सी प्रतीत होती है। एक संगीत ही ऐसा माध्यम है जो बेजान नाट्य रूपी शरीर को प्राणवान कर उसे जीवंतता प्रदान करता है।

'गान्धर्व त्रिविधं विधात् स्वरताल पदात्मकम्' अर्थात् स्वर ताल व पद से युक्त प्रयोग ही गान्धर्व है।

संदर्भ

1. भारतीय संगीत का इतिहास, श्री उमेश जोशी, मानसरोवर प्रकाशन, फिरोजाबाद, उ0प्र0
2. नाट्यशास्त्र (काशी संस्कृति ग्रंथमाला–215), श्री बाबू लाल शुक्ल, शास्त्री–संपादक तथा व्याख्याकार
3. भारतीय संगीत में ताल और विधान, सुभद्रा चौधरी
4. निबंध संगीत, श्री लक्ष्मी नारायण गर्ग (संकलन)

* * *

मेलापक विचार मङ्गल दोष एवं परिहार

लोकेश्वर शर्मा
शोध छात्र, ज्योतिष विभाग
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय–वाराणसी

'दाम्पत्य जीवनोदेश्यो महान सेवामयस्तथा।
समाजदेशविश्वेभ्यो दिव्यत्मानं सपर्ययेत्'।।

हमारा भारतवर्ष संस्कार एवं धर्म प्रधान है। संस्कारों का धार्मिक स्वरूप हमें यहीं देखने व मिलता है। हमारे यहाँ मुख्यतः सोलह (16) संस्कारों की गणना की गई है–

गर्भाधानमयश्च पुंसवनकं सीमन्तजाताभिधे
नामाख्यं सहनिष्क्रमेण च तथाऽन्नप्राशनं कर्म च।
चूडाख्यो व्रतवन्धकोऽप्यथ चतुर्वेदव्रतानां पुनः
केशान्तः सविसर्गकः परिणयः स्यात् षोडशीकर्मणाम्।।

इन संस्कारों में विवाह संस्कार प्रमुख माना गया है। यहीं गृहस्थाश्रम का मूल है सांसारिक सुखों या पारलौकिक सफलताओं में विवाह का महत्व सर्वोपरि है। सर्वप्रथम यह जानन आवश्यक है कि विवाह क्यों किया जाता है और इसके कितने भेद हैं ? स्वर्गादि सुख का मूलभू कारण तथा पुत्र की उत्पत्ति की कामना से मनुष्य को विवाह करना चाहिए–

नापुत्रस्य लोकोऽस्ति अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्ग नैव च नैव च।[1]

प्रत्येक आश्रमों का आदि पोषक होने के कारण गृहस्थ आश्रम सर्वश्रेष्ठ बताया गया है अत गृहस्थाश्रम की रक्षा के लिए विवाह करना परमावश्यक होता है–

अनाश्रमी न तिष्ठेत क्षणमेकमपि द्विजः।
आश्रमादाश्रमं गच्छेदेष धर्मः सनातनः।।[2]

मनु के अनुसार आठ (8) प्रकार के विवाह होते हैं–

ब्राह्मो दैवस्तथा चाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।[3]

इन आठ प्रकार के विवाह में ब्राह्म, देव, आर्ष और प्राजापत्य ये चार प्रकार के विवा कथित काल में किये जाते हैं। आसुर गान्धर्व, राक्षस, पैशाच ये चार विवाह सदैव (जब कभी) भ किये जाते हैं।

प्राजापत्यं ब्राह्मदैवार्षिसंज्ञा कालेषूक्तेष्वेव कार्या विवाहाः।
गान्धर्वाख्याश्चासुरो राक्षस पैशाचो वा सर्वकाले विधेयाः।।[4]

इस पुण्य भूमि कर्म क्षेत्र भारतवर्ष में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य विवाह की ही प्रधानता ह जिसमें विवाहोत्तर काल के लिए विवाहोपयुक्त समय की आवश्यकता होती है, क्योंकि विवाहानन्त स्त्री–पुरुषों की अनुकूलता रहने पर ही पुत्रादि की उत्पत्ति और विविध सुखों की प्राप्ति होती है जैसे याज्ञवल्क्य ने कहा है–

'यात्रानुकूल्यं दम्पत्योस्त्रिवर्गस्तत्र वर्धते।'[5]

ज्योतिषशास्त्र स्त्री–पुरुष की अनुकूलता लग्नवश मानता है–

''भार्या त्रिवर्गकरणं शुभशीलयुक्ता
शीलं शुभं भवति लग्नवशेन तस्या।
तस्माद्विवाहसमयः परिचिन्त्यते हि
तन्निघ्नतामुपगताः सुतशीलधर्माः।।''[6]

सुन्दर स्वभाव (सदा पति के अनुकूल चलने) वाली स्त्री धर्म, अर्थ, काम इन तीनों वर्गों को देने वाली होती है और पति को सहयोग देकर तीन ऋणों से मुक्त करती है। स्त्री की सुशीलता विवाहकालिक लग्न के अधीन है अर्थात् शास्त्रविहित शुभ मुहूर्त में विवाह होने से स्त्री का स्वभाव और आचरण पवित्र होता है इसलिये विवाह का विचार पुत्र, शील और धर्म, विवाह कालिक लग्न के अधीन होते हैं।

सेवादासी रतौ वेश्या भोजने जननी समा।
विपत्तौ मतदात्री च सा जाया जगदुर्लभा।।[7]

उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति एवं सुखमय जीवन संचालन की दृष्टि से ज्योतिषशास्त्र में विवाह से पूर्व वर कन्या के गुण दोषों के अवलोकन का विधान किया गया है। विवाह जैसे महत्वपूर्ण संस्कार के लिये वर–कन्या के शारीरिक, मानसिक ओर व्यवहारिक लक्षणों में सामंजस्य होना अत्यावश्यक है। मेलापक विचार में ग्रहों की स्थिति द्वारा भाग्य, सौभाग्य तथा संतान का विचार मुख्यतः किया जाता है जिससे भावी दाम्पत्य जीवन में अनुकूलता बनी रहे। मेलापक विचार में वर–कन्या के जन्मनक्षत्रों तथा जन्मकालिक ग्रह द्वारा अष्टकूटों का मिलान होता है। विवाह मेलापक में अष्टकूट सर्वत्र प्रसिद्ध है–

वर्णो वश्यं तथा तारा योनिश्च ग्रहमैत्रकम्।
गणकूटं भकूटं च नाडी चैते गुणाधिकाः।।[8]

इन आठ कूटों में प्रत्येकं कूट को उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर कुल छत्तीस (36) गुण होते हैं–

क्र0सं0	गुण नाम	गुण संख्या
1.	वर्ण	1
2.	वश्य	2
3.	तारा	3
4.	योनि	4
5.	ग्रह मैत्री	5
6.	गणकूट	6
7.	भकूट	7
8.	नाडी	8
	कुल योग	36

यदि वर कन्या की कुण्डली के मिलान करने पर अठारह (18) गुण हो या इससे अधिक गुणों विवाह करना शुभ होता है।

(1) वर्ण गुण विचार (परस्पर कार्य क्षमता)– यदि कन्या के वर्ण से वर का वर्ण उत्त अथवा समान हो तो दोनों का वर्णगुण एक (1) होगा यदि इसके विपरीत हुआ तो गुण शून्य (होता है।

वर्ण विभाजन राशियों के आधार पर होता है–

द्विजा झषालिकर्कटास्ततो नृपा विशोंऽध्रिजाः।
वरस्य वर्णतोऽधिका वधूर्न शस्यते बुधैः।।[9]

वर्ण	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वश्य	शूद्र
राशि	कर्क, वृश्चिक, मीन	सिंह, धनु, मेष	कन्या, मकर, वृष	मिथुन, तुला, कुम्भ

उदाहरण– यदि वर का नाम राजेश तथा कन्या का सीमा है तो वर का चित्रा नक्षत्र क तृतीय चरण हुआ तथा कन्या का शतभिषा नक्षत्र का तृतीय चरण हुआ तथा वर की तुला रा तथा कन्या की कुम्भ राशि हुई। दोनों की राशि, शूद्र वर्ण की होने पर वर्ण गुण एक हुआ।

वर्ण गुण शून्य (0) होने पर परिहार भी बताये गये हैं–

परिहार– (1) ग्रह मैत्री होने पर वर्ण दोष नहीं होता।

(2) वर का राशिपति, कन्या के राशिपति से उत्तम वर्ण का हो तो वहाँ उस राशि क चिन्ता नहीं करनी चाहिए–

"हीनवर्णो यदा राशी राशीशो वर्ण उत्तमः।
तदा राशीश्वरो ग्राह्यस्तद्राशिं नैव चिन्तयेत्।"[10]

(2) वश्य गुण विचार (परस्पर सम्बन्ध)– इस गुण में वर कन्या दोनों के मैत्री, वैर अ भक्ष्य का विचार होता है। नक्षत्रानुसार राशियों की नर, चतुष्पद, जलचर कीट एवं वनचर सं होती है–

हित्वा मृगेन्द्रं नरराशिवश्याः सर्वे तथैषां जलजास्तु भक्ष्याः।
सर्वेऽपि सिंहस्य वशे विनालिं ज्ञेयं नराणां व्यवहारतोऽन्यत्।।[11]

दोनों की मैत्री रहने पर दो (2) गुण वैर तथा भक्ष्य में शून्य (0) गुण, वश्य और वैर में ए (1) गुण तथा वश्य और भक्ष्य में आधा (½) गुण होता है। ध्यान रहे कि वर की अपेक्षा कन्या भ वा वश्य होनी चाहिए–

वैरभक्ष्ये गुणाभावो द्वयोः सख्ये गुणद्वयम्।
वश्यवैरे गुणस्त्वेको वश्य भक्ष्ये गुणार्धकः।।[12]

उदाहरण– वर राजेश तुला राशि तथा कन्या सीमा कुम्भ राशि तथा वर की नर राशि त कन्या की जलचर राशि होने पर आधा (½) गुण प्राप्त हुआ।

परिहार– यदि राशियों में परस्पर वश्य गुण न मिले तो परस्पर ग्रह मैत्री तारा शुद्धि अ योनि शुद्धि होने पर वश्य का दोष नहीं रहता।

(3) तारा गुण विचार (एक दूसरे को समझने की शक्ति)– तारा गुण का सम्बन्ध नक्षत्रों से है। यह शुभ ओर अशुभ दो प्रकार के होते हैं। वर के नक्षत्र से कन्या के नक्षत्र तक गिनने पर तथा कन्या के नक्षत्र से वर के नक्षत्र तक गिनने पर जो संख्या मिले उसे पृथक्–पृथक् स्थानों पर रख कर नौ (9) से भाग देने पर यदि 3, 5–7 शेष रहे तो तारा अशुभ होती है तथा 1, 2, 4, 6, 8, 0 शेष रहने पर शुभ होती है–

कन्यक्षर्शाद्वरभं यावत् कन्याभं वरभादपि।
गणयेन्नवहृच्छेषे त्रीष्वद्रिभमसत्स्मृतम्।।[13]

अशुभ तारा होने पर शून्य (0) गुण तथा एक शुभ एवं अशुभ होने पर डेढ़ (1½) गुण तथा दोनों शुभ होने पर तीन (3) गुण होता है–

एकतो लभ्यते तारा शुभश्चौवाऽन्यतोऽशुभाः।
तदा सार्ध गुणश्चैव तारा शुद्धता मिथस्त्रयम्।।[14]

उदाहरण– वर राजेश चित्रा नक्षत्र तथा कन्या सीमा शतभिषा नक्षत्र, वर नक्षत्र चित्रा से कन्या नक्षत्र शतभिषा तक गिनने पर 11 तथा इसके विपरीत गिनने पर कन्या के नक्षत्र से वर के नक्षत्र पर गिनने पर 18 संख्या प्राप्त हुई दोनों में 9 का भाग देने पर शेष दो (2) तथा शून्य (0) रहा इसलिये शून्य (0) अर्थात् 9वीं तारा तथा दूसरी तारा के गुण तीन (3) प्राप्त हुए।

परिहार– (1) राशीश में मैत्री रहने पर तारा दोंष नहीं रहता–

न वर्गवर्णौ न गणो न योनिः द्विर्द्वादशे चैव षऽष्टेक वा।
तारा विरोधे नवपञ्चमे व मैत्री यदास्याच्छुभदो विवाहः।।[15]

(2) राशीश एकता (3) नवांशेश मैत्री (4) नवांशेश एकता। रहने पर तारा दोष नहीं होता।

(4) योनि विचार (एक दूसरे का विवेक संतुलन)– योनि युग में नक्षत्र द्वारा उनकी पृथक्–पृथक् योनियों पर विचार किया गया है अर्थात् अश्विनी शतभिषा की अश्व योनि, स्वाती–हस्त की महिष योनि, घनिष्ठा–पूर्वाभाद्रपद की सिंह योनि, भरनी, रेवती की गज योनि, पुष्य–कृतिका मेष योनि, श्रवण–पूर्वाषाढ़ा वानर योनि, उत्तराषाढ़ा–अभिजित नकुल योनि, मृगशिरा–रोहिणी, सूर्य योनि, ज्येष्ठा–अनुराधा की मृग योनि, मूल–आर्द्रा की श्वान योनि, पुनर्वसु–आश्लेषा की मार्जार योनि, मघा–पूर्वाफाल्गुनी की मूषक, विशाखा–चित्रा की व्याघ्र उत्तराफाल्गुनी–उत्तराभाद्रपद की गौ योनि है। एक–एक चरण में नक्षत्रों की कही गयी दो–दो योनियों में परस्पर महावैर होता है। इन्हें विवाह में त्यागना चाहिये–

अश्विन्यम्बुपयोर्हयो निगदितः स्वात्यर्कयोः कासरः
सिंहो वस्वजपाद्भयोः समुदितो याम्यान्त्ययोः कुञ्जरः।
मेषो देवपुरोहितानलभयोः कर्णाम्बुनोर्वानरः
स्याद् वैश्वाभिजितोस्तथैव नकुलाश्चान्द्राब्जयोन्योरहिः।।[16]
ज्येष्ठामैत्रभयोः कुरङ्ग उदितो मूलार्द्रयोः श्वा तथा
मार्जारोऽदितिसार्पयोरथ मघायोन्योस्तथैवोन्दुरूः।
व्याघ्रौ द्वीशभचित्रयोरपि च गौरर्यम्णबुध्न्यर्क्षयो
र्योनिः पादगयोः परस्परमहावैरं भयोन्योस्त्यजेत्।।[17]

योनियों की अतिशत्रुता होने पर शून्य (0) सामान्य वैर हो तो एक (1) गुण सहज प्रकृति दो (2) गुण, मैत्री में तीन (3) गुण तथा अधिमैत्री (एक ही योनि) रहने पर चार (4) गुण मिलते हैं-

"महद्वैरे च वैरे च, स्वभावे च यथाक्रमम्।
मैत्रे चैवातिमैत्रे च रवेन्दुद्वित्रिचतुर्गुणाः।।"[18]

योनि गुण के अनुसार किसी व्यक्ति में कितनी और किस प्रकार की कामवासना है ? ए योनि होने पर दम्पति परस्पर संतुष्ट रहते हैं। यदि भिन्न योनि हो तो मध्यम तथा परस्पर विपरी योनि हो तो ठीक नहीं होता।

एक योनिषु सम्पत्ये दम्पत्यौ संगम सदा।
भिन्योनिषु मध्यस्यादरिभावो न चैतयोः।।[19]

उदाहरण– वर राजेश का चित्रा नक्षत्र तथा व्याघ्र योनि तथा कन्या सीमा का शतभि नक्षत्र की अश्व योनि हुई इन दोनों में वैर होने से योनि गुण की संख्या एक (1) हुई।

परिहार– (1) वर–कन्या की नक्षत्र योनि की वैरिता रहने पर भी यदि वश्य गुण ठीक तो विवाह करना शुभ होता है–

योनेरभावे नो द्वाहः स तु कार्ये वियोगहा।
राशिवश्यं च यद्यस्ति कारयेन्न तु दोषभाक्।।[20]

(2) ग्रहमैत्री, राशीश एकता, नवांशेश मैत्री, नवांशेष एकता वश्य शुद्धि भकूट शुद्धि, या स भकूट होने पर विवाह शुभ होता है–

वर्गवैरं योनिवैरं गणवैरं नृदूरकम्।
दुष्टकूटफलं सर्व ग्रहमैत्र्या विनश्यति।।[21]

(5) ग्रह मैत्री (परस्पर प्राकृतिक स्वभाव)– वर–कन्या के राशिपतियों मित्र–शत्रु–समता देखकर ग्रहमैत्री गुण विचार करना चाहिए–

चन्द्रेज्यक्षितिजा रवीन्दुतनयौ गुर्विन्दुसूर्याः क्रमा–
च्छुक्रार्कौ रविचन्द्रभूमितनयज्ञार्की सितज्ञौ मताः।
अर्कादेः सुहृदः समाः अथ बुध सर्वे हि शुक्रार्कजौ
भौमाचार्ययमायमः कुजगुरू पूज्यः परे वैरिणः।।[22]

यदि वर–कन्या का राशि स्वामी एक ही हो अथवा दोनों में परस्पर मैत्री हो तो पाँच (गुण एक मित्र दूसरा सम रहने पर चार (4) गुण दोनों सम हो तो तीन (3) गुण, एक सम दूस शत्रु हो तो दो (2) गुण, दोनों शत्रु हो तो शून्य (0) गुण होता है–

तत्रैकाधिपतित्वे च मित्रत्वे गुणपञ्चक्रम्।
चत्वारः सममित्रत्वे द्वयोः साम्ये त्रयो गुणाः।।
मित्रवैरे गुणश्चैकः समवैरे गुणार्धकम्।
परस्परं खेटवैरें गुणः शून्यं विनिर्दिशेत्।।[23]

उदाहरण– वर राजेश की तुला राशि, राशिपति शुक्र और कन्या सीमा कुम्भ रा राशिपति शनि-इनमें परस्पर मैत्री होने से पाँच गुण प्राप्त हुए।

परिहार– (1) ग्रह मैत्री गुण शून्य (0) होने पर यदि होने के राशियों के नवांश पतियों में मित्रता हो या नवांशपति बली हो तो विवाह करना शुभ होता है–

राशिनाथे विरुद्धेऽपि सबलावंशकाधिपौ।
तन्मैत्रेऽपि च कर्तव्यं दम्पत्योः शुभमिच्छता।।[24]

(2) दोनों की राशि भिन्न हो नक्षत्र एक हो या राशि एक हो नक्षत्र भिन्न हो तो ग्रह दोष नगण्य है–

एकराशौ पृथक् धिष्णये पृथग्राशौ तथैकभे।
गणं नाड़ीं च नृदूरं ग्रहवैरं न चिन्तयेत्।।[25]

(6) गण विचार (एक–दूसरे की अभिरूचि)– गण कूट का सम्बन्ध नक्षत्रों से है। सत्ताईस (27) नक्षत्रों को तीन भागों में (1) देवगण (2) नरगण (3) राक्षस गण रूप में विभक्त किया है–

देवगण– अनुराधा, पुनर्वसु, मृगशिरा, श्रवण, रेवती, स्वाती, हस्त, अश्विनी, पुष्य।

नरगण– तीनों पूर्वा, तीनों उत्तरा, रोहिणी, भरणी तथा आर्द्रा।

राक्षसगण– मघा, आश्लेषा, धनिष्ठा, ज्येष्ठा, मूल, शतभिषा, कृतिका, चित्रा, विशाखा। दोनों का एक गण होने पर परम प्रेम रहता है। देवगण और नरगण रहने पर मध्यम प्रेम तथा देव एवं राक्षस गण होने पर वैर और मनुष्य गण एवं राक्षसगण होने पर मृत्यु होती है–

रक्षोनरामरगणाः क्रमतो मघाहिवस्विन्द्रमूलवरुणानलतक्षराधाः।
पूर्वोत्तरात्रयविधातृयमेशभानि मैत्रादितीन्दुहरिपौष्णमरूल्लघूनि।।[26]
निजनिजगणमध्ये प्रीतिरत्युत्तमा स्यादमरमनुजयोः सा मध्यमा सम्प्रदिष्टा।
असुर मनुजयोश्चेन्मृत्युरेव प्रदिष्टो दनुजविबुधयोःस्याद्वैरमेकान्ततोऽत्र।।[27]

वर–कन्या का एक गण होने पर छः (6) गुण, देवता ओर नर में पाँच (5) गुण, देवता ओर राक्षस में तथा नर और राक्षस में शून्य गुण होता है–

षड्गुणा गुणसादृश्ये पञ्च स्युः सुरमानुषे। नार्या देवो नरः पुंसश्चत्वारो वा गुणास्त्रयः।।
देव–राक्षसयोः शून्यं तथैव नरराक्षसोः। पुंसो रक्षोगणो यत्र नार्या देवोऽथवा नरः।।[28]

विशेष– यदि कन्या देवगण तथा वर नरगण की हो तो चार (4) गुण, वर राक्षस गण, कन्या देवगण की हो तो दो (2) गुण, वर राक्षस गण तथा कन्या नर गण की हो तो एक (1) गुण होता है।

उदाहरण– पूर्वकथित उदाहरणों में वर चित्रा नक्षत्र का तथा कन्या शतभिषा नक्षत्र की है अतः दोनों का एक ही राक्षस गण होने पर गुण संख्या छः (6) प्राप्त हुई।

परिहार– (1) ग्रहमैत्री या नवांशपति की मैत्री हो तो विवाह शुभ होता है आचार्य गर्ग जी का मत है–

ग्रहमैत्री च राशिश्च विद्यते नियतं यदि।
न गणाभावजनितं दूषतां स्याद् विरोधदम्।।[29]

(2) एक राशि तथा नक्षत्र भिन्न अथवा नक्षत्र एक राशि भिन्न हो तो गण दोष नहीं हो आचार्य बृहस्पति जी का मत है–

एकराशौ पृथग्धिष्ण्ये पृथग्राशौ तथैकभे।
गणनाडी नृदूरं च, ग्रहवैरं न चिन्तयेत्।।[30]

(7) भकूट विचार (एक दूसरे की जीवन शैली–व्यवहार)– भकूट या राशिकूट ती प्रकार का होता है– द्विर्द्वादश, नव पञ्चम तथा षडाष्टक। वर की राशि से कन्या की राशि इसके विपरीत होने पर यदि 6–8 हो तो मृत्यु 5–9 हो तो सन्तान की हानि तथा 2–12 हो दरिद्रता होती है और अन्यत्र विवाह शुभ होता है–

मृत्युः षष्ठाष्टके ज्ञेयोऽपत्यहनिर्नवात्मजे।
द्विर्द्वादशे निर्धनत्वं द्वयोरन्यत्र सौख्यक्रार।।[31]

मतान्तर से वर की राशि से कन्या की राशि पाञ्चवीं (5) अशुभ है किन्तु नौवीं (9) शुभ एवं वर की राशि से कन्या की राशि दूसरी (2) अशुभ हैं परन्तु द्वादशी (12) राशि शुभ है–

पुंसो गृहात् सुतगृहे सुनहा च कन्या, धर्मे स्थिता सुतवती पतिवल्लभा च।
द्विर्द्वादशे धनगृहे धनहा च कन्या रिःफेस्थिता धनवती पतिवल्लभा च।।[32]

समसप्तक–वर–कन्या की राशियाँ आपस में सप्तम स्थान पर स्थित हो तो वह राशि, भ समसप्तक कहलाता है। यहाँ राशियों में शत्रुत्व होने पर भी समसप्तक योग शुभ होता मकर–कर्क, सिंह–कुम्भ इन दोनों में शत्रुता होती है। चतुर्थ–दशम को शुभ कहा है पर तुला–मकर, सिंह–वृष, कर्क–मेष, मीन–मिथुन, कन्या–धनु, वृश्चिक–कुम्भ से वर–कन्या के चतु दशम में भी शुभ नहीं होती यथा–

मृगः कुलीरेण, घटेन सिंहो वैरप्रदः स्यात् समसप्तकोऽयम्।
तुलामृगेणाथ वृषेण सिंहो मेषेण कीटो मिथुनेन मीनः।।
चापेन कन्या घटभेन चालिर्दुर्भाग्यदैन्ये दशतुर्यकेऽस्मिन्।।[33]

अतः अर्थ यह है कि 3–6, 4–7, 5–8, 10–1, 11–2 इनके चतुर्थ दशक ही शुभ है अ समसप्तक में 4–10, 5–11 ये अशुभ है।

उदाहरण– वर राजेश तुला राशि कन्या सीमा कुम्भ राशि अतः वर की राशि कन्या राशि से पाञ्चवीं हुई अतः नव–पञ्चक में भकूट गुण शून्य (0) हुआ।

परिहार– (1) षडष्टक, द्विर्द्वादश, नव–पञ्चक, राशि कूट दोष होने पर नाड़ी शुद्धि देख विवाह शुभ होता है।

(2) ग्रह मैत्री हो। (3) दोनों के राशियों के स्वामी एक हो।

(4) राशियों के स्वामी में शत्रुता होने पर नवांश स्वामियों की मैत्री का विचार करें।

मैत्र्यां राशिस्वामिनोरंशनाथद्वन्द्वस्यापि स्याद् गणानां न दोषः।
खेटारित्वं नाशयेत् सद्भकूटं खेटप्रीतिश्चापि दुष्टं भकूटम्।।[34]

(5) नाड़ी शुद्धि सर्वत्र ग्राह्य है–

प्रोक्ते दुष्टभकूटके परिणयस्त्वेकाधिपत्ये शुभो–
ऽथो राशीश्वरसौहृदेऽपि गदितो नाड्यृक्षशुद्धिर्यदि।
अन्यर्क्षेऽशपयोर्बलित्वसखिते नाड्यृक्षशुद्धौ तथा
ताराशुद्धिवशेन राशिवशताभावे निरूक्तो बुधै।।[35]

(8) नाड़ी (एक दूसरे से शारीरिक सम्बन्ध तथा सन्ततिपक्ष)– अष्टकूटों में सर्वाधिक महत्व नाडीकूट का है। गुणक्रम में सबसे अधिक होने के कारण मेलापक में इसका विशेष स्थान है–

नाडीकूटं तु संग्राह्य कूटानां तु शिरोमणि।
ब्रह्मणा कन्यकाकण्ठसूत्रत्वेन विनिर्मितम्।।[36]

स्थान भेद से नाड़ी कूट का विचार पञ्च तथा चार नाड़ी का भी होता है किन्तु त्रिनाड़ी का विचार सर्वत्र होता है। रामदैवज्ञ ने सत्ताईस नक्षत्रों को आदि, मध्य और अन्त्य तीन भागों में विभक्त होता है–

आद्य– अश्विनी, आर्द्रा, पुनर्वसु, उ0फा0, हस्त, ज्येष्ठ, मूल, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद।

मध्य– भरणी, मृगशिरा, पुष्य, पूर्वा फा0, चित्रा, अनुराधा, पूर्वाषा0, घनिष्ठा, उ0भा0

अन्त्य– कृतिका, रोहिणी, अश्लेषा, मघा, स्वाती, विशाखा, उ0षा0 श्रवण रेवती

ज्येष्ठार्यम्णेशनीराधिपभयुगयुगं दास्त्रभं चैकनाडी,
पुष्येन्दुत्वाष्ट्रमित्रान्तकवसुजलभं योनिबुध्न्ये च मध्या।
वाय्वग्निव्यालविश्वोडुयुगयुगथो पौष्णभं चापरा स्याद्
दम्पत्योरेकनाडयां परिणयनमसन्मध्यनाडयां हि मृत्यु।।[37]

वर–कन्या की एक नाड़ी होने पर विवाह अशुभ माना गया है। दोनों की आद्य नाड़ी हो तो विवाह के पश्चात् उनका परस्पर वियोग (तलाक)। मध्य नाड़ी हो तो दोनों का नाश, अन्त्य नाड़ी हो तो वैधव्य या अतिशय दुःख होता है–

आद्यैक नाडी कुरूते वियोगं मध्याख्यानाडयामुभयोर्विनाशम्।
अन्त्ये च वैधव्यमतीवदुःखं तस्माच्च त्रिस्त्रः परिवर्जनीयाः।।[38]

अर्थात् तीनों नाडी दोषों में मध्यनाडी का दोष मृत्यु योग बनाता है अतः यह हमेशा त्यज्य होती है–

मध्यनाडी न कुत्रापि कदापि शुभा भवति।।[39]

ज्योतिः प्रकाश ग्रन्थ में भी कहा गया है–

निधनं मध्यनाडयां च दम्पत्योर्नैवपार्श्वयोः।।[40]

उदाहरण– वर–राजेश चित्रा नक्षत्र का तथा कन्या सीमा शतभिषा नक्षत्र की दोनों की मध्य और आद्य नाडी हुई अतः आठ गुण मिले जो विवाह में शुभ है–

परिहार– (1) नाडी दोष होने पर वर–कन्या की राशि एक हो नक्षत्र भिन्न हो, अथवा नक्षत्र एक हो राशि भिन्न हो या, नक्षत्र एक हो चरण भिन्न हो तो नाडी और गणदोष नहीं होता–

राश्यैक्ये चेद्भिन्नमृक्षं द्वयोः स्यान्नक्षत्रैक्ये राशियुग्मं तथैव।
नाडीदोषो नो गणानां च दोषो नक्षत्रैक्ये पादभेदे शुभं स्यात्।।[41]

आचार्य भृगु के अनुसार–

दम्पत्योरेकराशिश्चित्पृगृक्षं यदा भवेत्।
वसिष्ठोक्तो विवाहः स्याद्गणनाडी न चिन्तयेत्।।[42]

(2) यदि वर–कन्या के राशिस्वामी शुक्र, वृहस्पति, अथवा बुध में से कोई एक हो तो ना दोष नहीं होता–

शुक्रे जीवे तथा सौम्ये एकराशिश्वरो यदि।
नाडी दोषो न वक्तव्यः सर्वथा यत्नतो बुधः।।[43]

(3) इसी प्रकार नाडी के अनेक परिहार पृथक्–पृथक् ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। यदि ना दोष होने पर भी विवाह करना अनिवार्य हो तो नाडी दोष की शान्ति हेतु ब्राह्मणों से महामृत्युंज मन्त्र का जपादि को कराकर के ब्राह्मणों को स्वर्ण, रत्न गौ अन्न, वस्त्र, धृत इत्यादि से सन्तु करने से नाडी दोष का परिहार होता है–

दोषापनुत्तये नाड्या मृत्युञ्जयजपादिकम्।

विधाय ब्राह्मणाश्चैव तर्पयेत्कांचनादिना।।

हिरण्यमयीं दक्षिणां च दद्याद्वर्णादिकूटके।

गावोन्नं वसनं हेम सर्वदोषापहारकम्।।[44]

अष्टकूट के विषय में वर्ण के आधार पर भी कूट दोष बनाए गये है। नाडी का विच ब्राह्मणों के लिए वर्ण विचार क्षत्रियों के लिए, गण विचार वैश्यों के लिए तथा शूद्रों के लिए यो शुद्धि विशेषतया विचारणीय होती है–

नाडीदोषस्तु विप्राणां वर्णदोषश्च क्षत्रिये।
गणदोषश्च वैश्येषु योनिदोषस्तु पादजान्।।[45]

कुज दोष एवं परिहार

अष्टकूट के पश्चात् मङ्गलजन्य दोष भी दृष्टिपटल में रखना आवश्यक होता है। इस द के कारण वर–कन्या में से एक का अभाव होता है। दोष लग्न, चन्द्रमा एवं शुक्र से करना चाहि शुक्र विवाह का कारक है– वर–कन्या के लग्नकुण्डली से तथा चन्द्र कुण्डली से यदि मङ्गल, ल में चतुर्थ में, सप्तम में अष्टम में तथा द्वादश भावों में रहे तो मङ्गल दोष होता है। इस प्रक चन्द्रकुण्डली से भी होता है। वर की कुण्डली में मङ्गल दोष हो तो कन्या का नाश और कन्या कुण्डली में हो तो वर का नाश होता है–

लग्ने व्यये च पाताले जामित्रे चाष्टमे कुजे।
कन्या भर्तृविनाशाय भर्ता कन्याविनाशदः।।[46]

मङ्गल दोष 1–4–7–8–12 स्थानों पर क्यों कहा इसका वैज्ञानिक पक्ष इस प्रकार से है–

1. वर–कन्या की जन्मकुण्डली में लग्न, पति–पत्नी का परस्पर मारक स्थान होता है।

2. द्वितीय भाव कुटुम्ब का है, पत्नी घर का महत्वपूर्ण केन्द्रीय स्तम्भ है तथा दूसरा स्थान पति–पत्नी की आयु का स्थान भी होता है।
3. चतुर्थ भाव को सुख संज्ञा दी गई है, घर का विचार भी इस स्थान से किया जाता है यदि गृहिणी न हो तो घर कैसा ?
4. सप्तम स्थान स्पष्ट रूप से पति या पत्नी का होता है तथा इसे काम संज्ञा भी दी गई है।
5. अष्टम स्थान पति–पत्नी के गुप्ताङ्ग का है अतः इस भाव से पति–पत्नी के सम्बन्ध स्पष्ट होते है।
6. द्वादश भाव दोनों के लिए शयन सुख को बताता है अतः इन स्थानों में मङ्गल या कोई भी पाप ग्रह हो तो दाम्पत्य जीवन में हानि करता है–

यत्कुजस्य फलं प्रोक्तं लग्ने तुर्ये व्ययेऽष्टमे।
सप्तमे सैंहिकेयार्क–सौरीणां च तथा स्मृतम्।।
तनौ चतुर्थे निधने व्यये वा मदालये पापयुतः कुजश्चेत्।
अनङ्गलीलां प्रकरोति जारैः पतिं तिरस्कृत्य विलोलनेत्रा।।[47]

जातकपरिजात नामक पुस्तक के अनुसार यदि जातक की कुण्डली में मङ्गल 2–4–7–8–12 स्थान में हो तो पत्नी का नाश करता है यदि कन्या की कुण्डली में इन्हीं स्थानों में मङ्गल हो तो पति का नाश करती है–

धनावसानस्मरयानरन्ध्रगो धरासुतो जन्मनि यस्य दारहा।
तथैव कन्याजनजन्मलग्नतो यदि क्षमासूनुरनिष्टः पतेः।।[48]

वर–कन्या का परस्पर प्रेम तथा सम्बन्ध मुख्य रूप से दोनों का स्वस्थ तन तथा मन पर निर्भर करता है। तन का विचार लग्न से तथा मन का विचार चन्द्रमा से होता है। अतः जन्मलग्न और चन्द्रलग्न से पूर्वकथित भावों में स्थित क्रूर ग्रहों का विचार करना चाहिए–

लग्नात्पुत्रकलत्रभे शुभपतिप्राप्तेऽथवाऽलोकिते।
चन्द्राद्वा यदि सम्पदस्ति हि तयोर्ज्ञेयोऽन्यथा सम्भवः।।[49]

लग्न, चन्द्र, शुक्र से 1–4–7–8–12 भावों में म¯ल होने पर इस योग को मङ्गली दोष, कुज दोष, मङ्गली योग भी कहते हैं।

इस योग में उत्पन्न जातकों को मङ्गली या माङ्गलीक कहा जाता है।

परिहार– (1) यदि वर–कन्या में से कोई एक मङ्गली हो तो दूसरे के जन्म समय में सूर्य, शनि, राहु, केतु आदि कोई पाप ग्रह 1–4–7–8–12 भावों में हो तो मङ्गल दोष नहीं रहता–

शनिर्भौमोऽथवा कश्चित्पापो वा तादृशोभवेत्।
तेष्वेव भवनेष्वेव भौमदोष विनाशकृत्।।[50]

अर्थात् एक को मङ्गल दोष हो तो दूसरे को उसी स्थान में कोई पाप ग्रह होना चाहिए।

(2) जिस जातक की कुण्डलीं में 1–4–7–9–12 में शनि हो तो मङ्गल दोष समाप्त हो जाता है–

यामित्रे च यदा सौरिर्लग्ने वा हितुके तथा।
नवमे द्वादशे चैव भौमदोषो न विद्यते।।[51]

(3) यदि लग्न में मेष राशि का मङ्गल हो, द्वादश में धनु का, चतुर्थ में वृश्चिक का, सप् में मीन का अष्टम में कुम्भ का हो तो मङ्गल दोष नहीं होता–

अजे लग्ने व्यये चापे पाताले वृश्चिके तथा।
द्यूने मीन–घटे–चाष्टौ भौमदोषो न विद्यते।।[52]

(4) यदि लग्नकुण्डली में बलवान गुरु वा शुक्र (मङ्गलयुक्त शुक्र) लग्न में या सप्तम में अथवा मङ्गल वक्री, नीच वा शत्रु के भाव में हो अथवा सूर्य से अस्तंगत हो तो मङ्गल दोष न रहता–

सबले गुरौ भृगौ वा लग्ने द्यूनगेऽपि वाऽथवा भौमे।
वक्रिणि नीचारि–गृहस्थे वाऽर्कस्थेऽपि वा न कुजदोषः।।[53]

(5) राशीश मैत्री गणैक्य तथा गुण बाहुल्य में भौम दोष नहीं होता–

राशीमैत्रं यदा याति गणैक्यं वा यदाभवेत्।
अथवा गुण बाहुल्ये भौम दोषो न विद्यते।।[54]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष यह हुआ कि वर–कन्या दोनों मङ्गली हो अथ गुणों में बहुलता हो तो विवाह करना उचित होता है। ऐसा करने पर दम्पत्ति दीर्घायु, पुत्र, मित्र प प्रचुर धन से युक्त रहते हैं। यदि मङ्गल दोष एवं गुण दोषों के उपरान्त भी विवाह करना आवश्य हो तो शास्त्रौक्त परिहार का भलीभांति अवलोकन करने के बाद विवाह सम्बन्ध स्थापित करने क अनुमति प्रदान करनी चाहिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका–
2. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका–
3. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका–
4. बृहद्दैवज्ञरंजनम्–प्रकरण–71, श्लोक–16
5. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका–
6. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाह प्रकरण, श्लोक–1
7. मुहूर्तचिन्तामणी– पीयूषधाराटीका
8. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–21
9. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–22
10. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका
11. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–23
12. मुहूर्तचिन्तामणी– पीयूषधाराटीका
13. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–24
14. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका
15. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 102
16. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–25
17. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–26
18. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका

19. मुहूर्तचिन्तामणी– पीयूषधाराटीका
20. मुहूर्तचिन्तामणी– पीयूषधाराटीका
21. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 102
22. जातकालंकार–प्रथम अध्याय, श्लोक–10
23. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका
24. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 102
25. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 103
26. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–29
27. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–30
28. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका
29. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 103
30. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 103
31. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–31
32. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 105
33. मुहूर्तचिन्तामणी– मणीप्रभाटीका
34. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–33
35. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–32
36. बृहद्दैवज्ञरंजनम् प्रकरण–71, श्लोक–93
37. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–34
38. बृहद्दैवज्ञरंजनम् प्रकरण–69, श्लोक–355
39. मुहूर्तचिन्तामणी– पीयूषधाराटीका
40. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 106
41. मुहूर्तचिन्तामणी– विवाहप्रकरण, श्लोक–35
42. बृहद्दैवज्ञरंजनम् प्रकरण–71, श्लोक–25
43. बृहद्दैवज्ञरंजनम् प्रकरण–71, श्लोक–44
44. बृहद्देवज्ञरंजन प्रकरण–71, श्लोक–65
45. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 110
46. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 113
47. भावकुतुहलम्–नवमोअध्याय, श्लोक–26
48. जातकपारिजात–चतुर्दशअध्याय, श्लोक–34
49. बृहज्जातक–निष्टाध्याय, श्लोक–1
50. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 113
51. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 113
52. मालितमार्तण्ड–स्त्रीजातकाध्याय–श्लोक–35
53. मालितमार्तण्ड–स्त्रीजातकाध्याय–श्लोक–36
54. मुहूर्तपारिजात, पृ0सं0 114

* * * * *

ENVIRONMENTAL QUALITY OF WATER

Dr. Sumita Tripathi
New Delhi

Introduction

Groundwater is not chemically pure. The relative slow movement of wat percolating through rocks affords an intimate long contact of water with minerals. The minerals are soluble and from dissolved salt. Ordinary higher proportion of dissolv salts are present in ground water than in surface water. Excess irrigation wat percolating to the water table may contribute substantial quantities of salt. Water passi through the root zone of cultivated areas usually contains saline concentration sever times that of the applied irrigation water. In addition, soluble soil materials, fertilize and selective absorption of salts by plants will modify salt concentration of percolati waters. Factors governing the increases include soil permeability, drainage faciliti amount of water applied, crops and climate. Thus, high salinities are found in soils a groundwater's of acid climates where leaching by rain water is not effective in diluti the salt solutions. Similarly poor drained areas, contain high salt concentration.

Calcium, magnesium, potassium and sodium are major constituents of water a soils. These dissolved ions affect the quality of ground water and soil, as acidic, neutr alakline of saline water, which in turn affect the quality of ground water used f irrigation, domestic and industrial purposes. The quality required for a ground wat supply depends upon its purpose; thus needs for drinking water, industrial water a irrigation water vary widely. In specifying the quality of water, measures of chemic physical and bacterial constituents are important, depending upon the purpose for whi it is utilized. Recommended limits of water quality can be determined, serving as guid for protection and development of ground water and soil water.

In general, the study of quality of water is important for the following purposes:

(1) To know the geochemistry of ground water and soil (source of salts).

(2) To know the suitability of ground water for various uses and for possib treatment if the quality of ground water is not suitable for given purpose.

Expression of water analysis

Various units are commonly employed in expressing the data obtained for chemical analysis of water and soil samples which are listed as follows:

(1) Weight per Weight Units

The most common units is parts per million (ppm), which represents one part b weight of dissolved matter in a million parts of weight of solution such as one milligra of solute in one kilogram of solution. It is a dimensionless unit and parts per million a milligram per litre are numerically almost the sane if the concentration of dissolved solids is low and specific gravity of water is nearly one.

(2) EQUIVALENT WEIGHT UNITS

As cations and anions combine in a fixed ratio, this method takes into account, not only the weight concentration of ions but also the concept of ions and chemical equivalence. The common unit is equivalents per million (epm) or more exactly milligram/equivalents per kilogram. Equivalents per million is calculated by dividing parts per million by equivalent weight of ion. In present work the values are expressed in terms of parts per million and equivalent per million.

The present chapter deals with the quality limits of water supplies for domestic uses, industrial and irrigation purposes. From the study point of view, description has been divided into three parts:

1. Quality of irrigation water
2. Quality of water in relation to domestic use
3. Quality of water in relation to formations.

QUALITY OF IRRIGATION WATER

The concentration and composition of dissolved constituents in water determine its quality for irrigation use. Quality of water is an important consideration in any appraisal of salinity or alkali conditions in an irrigated area, because effects of salts on soils, causing changes in soil structure, permeability and aeration, indirectly affect plan growth. The characteristics of an irrigation water that appear to be most important in determining its quality are –

1. Total concentration of soluble salts
2. Relative proportion of sodium to other cations
3. Concentration of Boron or other elements that may be toxic
4. Bicarbonate concentration as related to concentration of 'calcium plus magnesium (Eaton, 1950), under some conditions only.

(1) TOTAL DISSOLVE SOLIDS (TDS)

If the salt concentration in water increases, it is difficult to the plants to extract water.

(2) According to U.S. Salinity Laboratory Staff (1950), the irrigation water is classified to determine -

i) Salinity hazards

ii) Sodium hazards

(i) SALINITY HAZARDS

Water in the range of 450 to 1500 TOS in ppm, can be used for irrigation u
good management and if concentration of salts is very high, there will be toxic effe
certain salts to the plants. Four classes of irrigation water based on TDS, are show
the Table — I.

(ii) SODIUM HAZARDS

Soluble inorganic constituents of irrigation water react with soils as ions ra
than as molecules. The principal cations are calcium, magnesiuz and sodium, with s
quantities of potassium ordinarily present. The principal anions are carbo
bicarbonate, sulphate and chloride with flouride and nitrate occurring in
concentrations. The alkali hazard involved in the use of water for irrigation is determ
by absolute and relative concentrations. If the proportion of sodium is high, the a
hazard is high; and conversely, if calcium and magnesium predominate, the haza
low. Alakli soils are formed by accumulation of exchangeable sodium and are o
characterized by poor tilth and low permeability. High concentration of sodium rel
to calcium and magnesium in irrigation waters adversely affect the soil structure.
cations in the soil solution, become fixed on the surface of clay particles. When
sodium water is applied to soil, the number of sodium ions, combined with the
increases while an equivalent quantity of calcium, or other ions, is displaced. Sod
tends to deflocculated and effects porosity and permeability of the soil or cau
deflocculating and reduction of permeability and porosity. In an opposite case w
calcium is dominant cation, the exchange occurs in the reverse direction, creati
flocculated and more permeable soil. The addition of gypsum ($CaSO_4$) to soil resul
the improvement of soil texture and drain ability through base exchange process.

The adverse effect on soil caused by the high concentration of sodium is kn
as sodium hazard. Index used for predicting the sodium hazard of irrigation water is
concentration of sodium and proportion of sodium to calcium and magnesium, whic
known as sodium absorption ratio (SAR) as proposed by U.S. Agriculture Develop
may be defined by the equation —

$$SAR = \frac{Na}{\sqrt{(Ca + Mg)/2}}$$

where Na,Ca .& Mg are in epm per litre (milli - equivalent per litre). Sodium absorp
ratio of soil solution is simply related to absorption of sodium by soil; consequently.
ratio has certain advantages for use as an index of sodium or alkali hazard of water.

The concentration of soil solution is increased by extraction of water from soi
root and by evaporation. As the quantity of salt absorbed by plants is relatively small,
salts remained in the soil are more concentrated than the applied irrigation water. In
irrigation this more concentrated solution may be displaced, downward or diluted, an

the concentration of solution in contact with the soil varies with time and location in the profile. It is not unusual to find shallow ground water or drainage water that is from 2 to 10 times concentrate than the irrigation water. It is reasonable to assume, however, that for a limited depth of soil, such as the top of 12 inches, the concentration of the soil solution is not, on the average, more than 2 to 3 times the concentration of irrigation water. Under conditions, in the soil where it is permissible to neglect precipitation and absorption of soluble salts by roots, it is clear that irrigation water, after entering the soil, becomes more concentrated without change in its relative composition, i.e. the soluble sodium percentage does not change. The SAP value, however, increases in proportion to the square root of total concentration, i.e. if the concentration is doubled the SAP value increases by a factor of 1.41, if the concentration is quadrupled the SAP value will be doubled. It has been observed that where an irrigation water of relatively constant composition is used and drainage conditions are good, the ESP (Exchangeable — sodium - percentage) value of soil varies only slightly from. Season to season or year to year. This implies that the cation — exchange material of the soil has reached a steady state relative to cations in the soil solution which are derived from irrigation.

CLASSIFICATION OF IRRIGATION WATER

Classification of irrigation waters with respect to SAR (Table — II) is based primarily on the effect of exchangeable sodium and physical conditions of 3oil. Sodium sensitive plants may, however, suffer injury as a result of sodium accumulation in plant tissues when exchangeable sodium values are lower than those effective in Pausing deterioration in the physical conditions of soil. Four classes of irrigation water according to SAR values are given below.

Low Sodium Water (S_1) Low sodium water (Fig. 1) can be used for irrigation on almost all soils with little danger of the development of harmful levels of exchangeable sodium. However, sodium sensitive crops such as stone fruit trees may accumulate injurious concentration of sodium.

Medium Sodium Water (S_2) Medium sodium water (Fig. 1 may be cause appreciable sodium hazard in fine textured soils having high cation - exchange capacity, specially under low leaching conditions, unless gypsum ($CaSO_4$) is present in the soil. This water may be used on coarse — textured or organic soils with good permeability.

High Sodium Water (S_3) High sodium water (Fig. 1) may produce harmful levels of exchangeable sodium in moist soils and will require special soil management - good drainage, high leaching and organic matter additions. Gypsiferrous soils may not develop harmful levels of exchangeable sodium from such waters. Chemical amendments may be required for the replacement of exchangeable sodium, except that amendments may not be feasible with waters of high salinity.

Very High Sodium Water (S_4) Very high sodium water Fig. 1) is generally unsatisfactory for irrigation purposes except at low and perhaps medium salinity. Use of gypsum or other amendments may make the use of these waters feasible. Sometimes the irrigation water may dissolve sufficient calcium from calcareous soils to decrease the sodium hazard appreciably and this would be taken into account in the use of Class – S_3 and class – S_2 waters. For calcareous soils with high pH values or for non — calcareous soils, the sodium status of water in classes S_3 and S_4 may be improved by addition of gypsum to water, Similarly it may be beneficial to add gypsum to soil perichdically when class - S_3 and class-S_2 waters are used.

(3) CONCENTRATION OF BORON

Among sixteen important micronutrients, element boron, is an essential plant nutrient for its normal growth, in very small quantity, but in larger concentrations it becomes toxic. If it is present in very small amount or exceeds certain limits in irrigation water, it may cause injury to the plant. Normally 0.5 mg/1 of boron is essential even for sensitive crops, but if water contains boron more than 4.0 mg/l, it is harmful for all types of crops. Quantities needed very with crop types; sensitive crops require minimum amounts whereas tolerant crops will make maximum growth at several times of these concentrations (Table-III).

As per PWPCF (1968), maximum concentration of boron, one ppm in irrigation water is recommended whereas Ayers and Branson (1975) suggest, continuous use of irrigation water containing 0.75 mg/i boron. For short time use, maximum 2 mg/i boron may be applied in fine textural soils.

Boron toxicity occurs in limited, scattered areas in arid or semi - arid regions. While its incidence is not restricted to saline or alkali soils. Excess of boron is frequently present in saline soils.

(4) BICARBONATE CONCENTRATION AS RELATED CONCENTRATION OF CALCIUM PLUS MAGNESIUM (EATON, 1950);

When some of the carbonates and bicarbonates are in excess of calcium and magnesium, there is almost a complete precipitation of the later.

Residual carbonate (RC) = $(CO_3^{--} + HCO_3^{-}) - (Ca^{++} + Mg^{++})$

5. QUALITY OF WATER IN RELATION TO DOMESTIC USE:

(1) WATER STANDARDS

Quality limits of water supplied for drinking and irrigation purposes, established by various organizations, namely, WHO (Table-IV), USEPA (Table-V), Water Pollution Prevention Board (Table-VI), U.S. Public Health (Table –VII) and ISI, ICMR and NTAC (Table-VII).

(2) BACTERIAL QUALITY:

Most pathogenic bacteria round in water are indigenous to the intestinal tract of animal and man, so: water should be free from harmful coliform bacteria. Coliform test results are reported as the most probable number (MPN) of coliform group organisms in a given volume of water. The mean concentration of the total coliform organisms in river water shows considerable seasonal variation (Table-VI).

6. QUALITY OF WATER IN RELATION TO FORMATIONS:

Donalt E. White etc. (1963) have given that-

(a) Ratios of Ca/Na/Mg/Ca are generally high in basic igneous rocks. The source of salts is mainly from ferromagnesian minerals and plagioclase feldspar.

(b) Sedimentary rocks, particularly sandstones, will have the ratios of Ca/Na, 11C03/Cl, sO4/Cl are commonly higher than water from igneous rocks and generally TDS are also higher.

(c) In case of alluvium, the nature of concentration depends upon the source rock, i.e. the alluvium is being derived from igneous or from sedimentary source rocks.

In general, the waters in alluvium derived from igneous rocks will have low total dissolve salts, compared to the alluvium derived from sedimentary rocks, but the climatic conditions, nature of irrigation, organic contents may give rise to very high concentration of total dissolved solids with chlorides and shipmates.

Table-I : Based on the TDS the water is divided into 4 classes.

S. No.	Class	Salinity	TSD and Salinity
1.	C_1	Low salinity water	Up to 150 ppm and suitable for most crops. Specific conductivity - 250 us/cm.
2.	C_2	Medium salinity water	Salt between 150 to 450 ppm can be used inmost cases. Specific conductivity. 250-750 us/cm.
3.	C_3	High salinity water	Salt between 450 to 1500 ppm Specific conductivity 750-2250 us/cm.
4.	C_4	Very high salinity water	Salts more than 1500 ppm suitable for irrigation under ordinary condition. Specific conductivity- more than 2250 us/cm.

us/cm= Microsiements/cm= Micromhos/cm

Table-2: World Health organisation standards for potable water (1971)

Characteristics	Permissible	Excessive pmm
Total solids	500	1500
Colour	5 Hazen unit	50 Hazen unit
Turbidity	5 Jackson unit	25 Jackson unit
Iron	0.3	1.0
chloride	200	600
Manganese	0.1	0.5
Copper	1.0	1.5
Zinc	5.0	15
Calcium	75	200
Magnesium	50	150
Lead	-	0.1
chromium	-	0.05
Selenium	-	0.05
Arsenic	-	0.2
Cyanide	-	1.01
(Mg +Na) SO_4	500	1000
Nitrate	45	-
Phenols	0.001	0.002
pH value	7-8.5	6.5 or 9.2

References

1. APHA (1980) standard methods for the examination of water and waste water. APHA-AWWA-WPCP,Washington (15th ed.)
2. Cerco, C.F.(1986). Effect of temperature and dissolved oxygen on sediment water nutrient flux NSF/ENG.oct.1985,110pp.
3. Das, S.M. and Pandey,(1978). some physico-chemical and biological indicator of pollution in Nainital lake.Ind. J Ecol.5(1): 7-16.
4. ISI(1992) Indian standard tolerance limits for Inland surface water subject to pollution (2nd revision).Indian standared Institution, New Delhi,I.S.: 2296.
5. Saxena,P.K.,Jabeen, S and Sahai, R.(1988).Variation in certain physico, chemical characteristics of fresh water stream receiving industrial effluents. Geobios.15:107-111.
6. Schwoerbel, J.(1987). handbook of limnology, Ellis Harwood Ltd. Publishers. john Wiley and sons,Toroto, 227 pp.
7. Shukla, S.C., Tripathi, B.D., Mishra, B.P.,and Chaturvedi, S.S.,(1992) Physico-chemicaland Bacteriological properties of the water of river Ganga atGhazipur. Comp.Physiol.Ecol., Vol.17, No.3, pp.92-96.

*****

प्रत्यभिज्ञादर्शने ध्वनिसमूहस्य मालिनीमातृकारूपस्य क्रमद्वयस्य विवेचनम्

सौरभद्विवेदी
शोधछात्रः
संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायः,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी – 221005

प्रास्ताविकम् - मालिनीविजयोत्तरतन्त्रे तृतीयाधिकारे ध्वनिसमूहस्य द्वयोः क्रमयोः चर्चा प्राप्यते, यौ क्रमौ शोधपत्रास्यास्य विषयौ स्तः। प्रथमद्वितीययोरधिकारयोः शैवदर्शनस्य तत्त्वविषयिणी चर्चा, सिद्धिविषयकानि विभिन्नानि ज्ञानानि च वर्तन्ते।

तृतीयाधिकारे पार्वती शिवादितत्त्वं श्रोतुमिच्छां प्रकटयति। सा वाचकमन्त्रस्य इच्छाशक्तेः ज्ञेयस्य च परिभाषां प्रति कुतूहलं प्रकटयति।

"शिवादिवस्तुरूपाणां वाचकान्परमेश्वर।
साम्प्रतं श्रोतुमिच्छामि प्रसादाद्वक्तुमर्हसि॥"[1]

महादेवः तस्याः जिज्ञासां शान्तं कुर्वन् कथयति यत् यदा सृष्टिः करणीया भवति तदाऽहं स्वसमवायिनीमिच्छाशक्तिमाश्रयामि –

"या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते॥"[2]

अनन्तरं च स ज्ञापयति यत् **इच्छाशक्तिरेव ज्ञापयन्त्यामवस्थायां ज्ञानशक्तिः, कुर्वत्यामवस्थायां च क्रियाशक्तिरित्युच्यते।** पुनश्च इयमेव शक्तिरर्थोपाधित्वेन बहुधा विभज्यते। तत्र प्रथमं मातृभावं प्राप्य आत्मानं द्वेधा करोति – बीजरूपं योनिरूपञ्च। तदेव बीजयोनिसंयुक्ता शक्तेःक्रमरूपत्वं मातृकाक्रमरूपेण सञ्ज्ञायते।

मातृकाक्रमः – क्रमेऽस्मिन् पञ्चाशद्वर्णाः सन्ति। प्रथमं तु मातृभावप्राप्ता शक्तिः द्विधा विभज्यते – बीजरुपेण योनिरूपेण च। पुनः नवधा – एकं बीजस्य भेदः, अष्टौ च योनेः।पुनश्च पञ्चाशत्। 'अ'वर्णात् विसर्गपर्यन्तं षोडश स्वरवर्णाः सन्ति अथ च 'क'वर्णात् 'स'वर्णपर्यन्तं त्रयस्त्रिंशत् व्यञ्जनवर्णाः सन्ति। इत्थम् एकोनपञ्चाशद्वर्णाः भवन्ति। 'क्ष'वर्णः 'चक्रेश्वर'वर्ण उच्यते। इत्थम् 'अ'-'क्ष' पर्यन्तं पञ्चाशद्वर्णाः सञ्ज्ञायन्ते। षोडश **स्वरवर्णाः बीजवर्णा** उच्यन्ते। अन्ये त्रयस्त्रिंशद्वर्णाः **व्यञ्जनवर्णाः योनिवर्णाः** कथ्यन्ते।

---

[1] श्रीमालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्, तृतीयोऽधिकारः,पृ. -३९

[2] तत्रैव, पृ. -४०

बीजयोनिवर्णयोः संयोगवशात् समस्तं वाङ्मयं प्रसारं प्राप्नोति। अस्य पाठक्रमस्य नाम मातृकाक्रमो वर्तते, यतोहि अष्टमातृकाः क्रमस्यास्य अष्टवर्गाणां अधिष्ठात्र्यः देव्यः वर्तन्ते। अघोरादयश्च पुरुषभावसज्ञां लभन्ते।

अवर्गस्य अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मी, कवर्गस्य कमलोद्भवा, चवर्गस्य महेशानी, टवर्गस्य कौमारी, तवर्गस्य नारायणी, पवर्गस्य वाराही, यवर्गस्य(य, व, र, ल) ऐन्द्री, शवर्गस्य (श, ष, स, ह) चामुण्डा, चक्रेश्वरस्य च योगीशी अस्ति। अत्र वर्गाणां अत्र शिवः स्वयमेव बीजरूपेण तिष्ठति, योनिश्च शक्त्यर्थे व्यवहृतो भवति –

"बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते।
वाचकत्वेन सर्वापि शम्भोः शक्तिश्च शस्यते॥"[1]

सम्प्रति ग्रन्थस्थाः मूलकारिका उपस्थाप्यन्ते –

"द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी।
बीजयोन्यात्मकाद्भेदाद् द्विधा बीजं स्वराः मताः॥
कादिभिश्च स्मृता योनिर्नवधा वर्गभेदतः।
प्रतिवर्णविभेदेन शतार्धकिरणोज्ज्वला॥
वर्गाष्टकमिह ज्ञेयं घोराद्यनुक्रमात्।
तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम्॥
माहेशी ब्राह्मणी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
ऐन्द्री याम्या च चामुण्डा योगीशी चेति ता मताः॥[2]

अत्र स्पष्टतया अवगमनाय सारणी प्रस्तूयते –

क्रमाङ्कः	वर्गः	वर्णसङ्ख्या	पुरुषभावस्य सञ्ज्ञा	शक्तिभावस्य सञ्ज्ञा
१	अवर्ग	१६	शम्भुः बीजभावः	योनिशक्तिः
२	कवर्ग	५	अघोरः	माहेश्वरी
३	चवर्ग	५	परमघोरः	ब्राह्मी
४	टवर्ग	५	घोररुपं	कौमारी
५	तवर्ग	५	घोरमुखः	वैष्णवी
६	पवर्ग	५	भीमः	ऐन्द्री

---

[1] तत्रैव, पृ. -४३

[2] तत्रैव, पृ -४२-४४

७	यवर्गः	४	भीषणः	याम्या
८	शवर्गः	४	वमनम्	चामुण्डा
९	चक्रेश्वरः	१	पिबनम्	योगीशी

अथ च एतेषां सर्वेषामेव वर्णानां रुद्रा अपि वाचकाः भवन्ति। तेषां सर्वेषां नामानि तत्रैव द्रष्टव्यानि।[1]

मातृकायाः फलम् – वस्तुतः ध्वनिक्रमोऽयं वैखरीवाक् रूपेण श्रूयते, ज्ञायते च। उपासनापद्धतौ तु अस्य ध्यानं क्रियते, अतएव क्रमशः पश्यन्तीं, मध्यमां, परावाचं च साधकः साक्षात्कर्तुं यतते। साधकानां कृते मन्त्राणां बहु प्रकाराः भवन्ति किन्तु तत्र मालिनीमातृकयोर्वैशिष्ट्यं वर्तते। मातृका सर्वकामफलप्रदा उक्ता वर्तते।

"ते तैरालिङ्गिताःसन्तः सर्वकामफलप्रदाः।
भवति साधकेन्द्राणां नान्यथा वीरवन्दिते॥"[2]

अथ च एभिरेव सर्वशक्तिसमन्वितैर्वर्णैः इयं मानुषी दैविकी च सृष्टिः भवति। एभिरेव च निखिलानि शास्त्राणि वेदाश्च सम्भवन्ति –

"तैरिदं सन्ततं विश्वं सदेवासुरमानुषम्।
तेभ्यः शास्त्राणि वेदाश्च सम्भवन्ति पुनः पुनः॥"[3]

मालिनीक्रमः – मातृकाशक्त्यनन्तरं शिवः पार्वतीं शक्तेः त्रैविध्यमपि ज्ञापयति – घोरतराऽपरा शक्तिः, घोरपराऽपरा शक्तिः, अघोरा पराशक्तिश्च। **भिन्नयोनिं मातृकां मालिनीं** कथ्यते।[4] वर्णेष्वेव समस्तानि तत्त्वानि, तेषां शक्तीनां सत्त्वञ्च समुल्लसितं वर्तते। तदनन्तरं शिवः विशिष्टां शक्तिं कथयति, या शिवस्यैव । सा एका एव मुख्या च, तत्र भेदात्मकत्वं नास्ति। इयं शक्तिः समस्तां सूक्ष्मातिसूक्ष्मां सत्तां आत्मन्येव अधिष्ठितां कृत्वा तिष्ठति। **इयं शाङ्करी शक्तिः मालिनी एव –**

"एताःसर्वाणुसङ्घातमपि निष्ठाय यथास्थिताः।
तथा ते कथिताः शम्भोः शक्तिरेकैव शाङ्करी॥[5]

अस्याः यो भेदः परिलक्ष्यते, वस्तुतः स वाचकदृष्ट्याऽनुभूयते। परमेशेन प्रतिपाद्यते च यत् मन्त्रतन्त्रयोः निखिलानि फलानि अनयैव सिद्धानि भवन्ति –

---

[1] तत्रैव, पृ. -४४-४५

[2] तत्रैव, पृ. -४७

[3] तत्रैव

[4] भिन्नयोनिस्तु या देव त्वयोक्ता मालिनी मम। तस्या अङ्गे तथैतानि संस्थितानि तथा वद॥ तत्रैव, चतुर्थोऽधिकारः, पृ -६२

[5] तत्रैव, पृ. -४८

"अस्या वाचकभेदेन भेदोऽन्यः संप्रचक्ष्यते।
यथेष्टफलसंसिद्ध्यै मन्त्रतन्त्रानुवर्तिनाम्॥"[1]

यदा गुरुः स्वशिष्यं दीक्षां ददाति, तदा शिष्यस्य शरीरं शक्तिमत् विदधाति। अस्मै कर्मणे च सः **न्यासकर्म** करोति, यच्च शाङ्करीशक्त्या मालिन्याः क्रमानुसारेण विदधाति। इयं **भिन्नयोनिमालिनी** च शिष्यं शक्तिमन्तं करोति –

"विशेषविधिहीनेषु न्यासकर्मसु मन्त्रवित्।
न्यसेच्छाक्तशरीरार्थं भिन्नयोनिं तु मालिनीम्॥"[2]

न्यासाय च कस्य वर्णस्य क क्रमः? किं स्थानम्? किं तत्त्वम्? का च शक्तिरिति सर्वं तृतीयेऽधिकारे व्याख्यातं वर्तते –

"न शिखा ऋॠ लृॡ च शिरोमाला च मस्तकम्।
नेत्राणि च ध वै नासा ई समुद्रे णुणू श्रूती॥
बकवर्गइआ वक्त्रदन्तजिह्वासु वाचि च।
वभयाः कण्ठदक्षादिस्कन्धयोर्भुजयोर्डढौ॥
ठो हस्तयोर्झञौ शाखा ञटौ शूलकपालके।
पह्च्छलौ स्तनौ क्षीरमा स जीवो विसर्गयुक्॥
तत्परः कथितः प्राणः षक्षावुदरनाभिगौ।
मशताः कटिगुह्योरुयुग्मा जानुनी तथा॥
एऐकरो तथा जङ्घे तत्परौ चरणौ दफौ।
अतो विद्याश्च मन्त्राश्च समुद्धार्या यथा शृणु॥"

इत्थमत्र मालिनीशक्तेः शाङ्करीशक्तेर्वा न्यासस्याङ्गानि प्रदर्शितानि । चतुर्थेऽधिकारे पुनरस्य तत्त्वान्यप्युक्तानि वर्तन्ते –

"फे धरातत्त्वमुद्दिष्टं दादिझान्तेऽनुपूर्वशः।
त्रयोविंशत्यबादीनि प्रधानान्तानि लक्षयेत्।
थादौ च सप्तके सप्त पुरुषादीनि पूर्ववत्।

---

[1] तत्रैव, पृ. -४९

[2] तत्रैव, पृ. -४९

इङ्घेषु त्रयं विद्याद्विद्यातः सकलावधि।
शिवतत्त्वे गकारादीनान्तान् षोडश लक्षयेत्।
कलाः पदानि मन्त्राश्च भुवनानि च सुन्दरि।"[1]

अत्र वर्णानां तत्त्वेषु एका क्रमिकता दृश्यते। प्रथमं शिवतत्त्वं, पुनः यथाऽवरोहक्रमानुसारेण पञ्चाशद्वर्णानां व्यवस्था।। व्याख्यापेक्षया तालिकयैव प्रदर्श्यते येन लाघवः, सरलतया अवबोधश्च भविष्यति। अथापि अत्र योनिवर्णानां तत्त्वानि शक्तिसञ्ज्ञाश्च न उल्लिखिताः सन्ति। तेषामप्यत्र तालिकामाध्यमेनैव प्रदर्शने सौकर्यं भविष्यति-

क्रमाङ्कः	वर्णाः	तत्त्वम्	न्यासाङ्गानि	वर्णशक्तीनां सञ्ज्ञा
१	न	शिवतत्त्वम्	शिखा	नादिनी
२-५	ऋ, ॠ, लृ, ॡ	शिवतत्त्वम्	शिरोमाला	निवृत्तिः, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता
६	थ	शिवतत्त्वम्	शिरसः अग्रभागः	सती उमा
७	च	शिवतत्त्वम्	तृतीयं नेत्रम्	चामुण्डा
८	ध	शिवतत्त्वम्	नेत्रम्	प्रियदर्शिनी
९	ई	शिवतत्त्वम्	नेत्रयोः मध्यः	गुह्यशक्ति
१०	ण	शिवतत्त्वम्	उभौ कर्णौ	नारायणी
११	उ	शिवतत्त्वम्	वामकर्णाभूषणम्	मोहिनी
१२	ऊ	शिवतत्त्वम्	दक्षिणकर्णाभूषणम्	प्रज्ञा
१३	ब	शिवतत्त्वम्	वक्त्रम्	अव्ययावज्रिणी
१४-१६	क ख ग	सदाशिवः	दन्तपङ्क्तिः	कङ्कटा, कालिका, शिवा
१७-१८	घ ङ	ईश्वरः	दन्तपङ्क्तिः	घोरघोषा, शिविरा
१९	इ	सद्विद्या	जिह्वा	माया
२०	अ	मन्त्रमहेश्वरः	वाक्	वागीश्वरी
२१	व	मन्त्रेश्वरः	कण्ठम्	शिखिवाहनी
२२	भ	मन्त्रः	दक्षस्कन्धः	भीषणी
२३	य	विज्ञानाकलः	वामस्कन्धः	वायुवेगा

---

[1] तत्रैव, पृ. -६३

२४	ड	कलाकलः	दक्षबाहुः	लाभः
२५	ढ	प्रलयाकलः	वामबाहुः	विनायकी
२६	ठ	सकलः	उभौ हस्तौ	पूर्णिमा
२७	झ	प्रकृतिः	दक्षिणाङ्गुलयः	झङ्कारी
२८	ञ	अहङ्कारः	वामाङ्गुलयः	कुन्दना
२९	ज	बुद्धिः	शिखाशूलम्	जयन्ती
३०	र	मनः	शूलदण्डम्	दीपनी
३१	ट	घ्राणम्	शूलकपालम्	परमेश्वरी
३२	प	जिह्वा	हृदयम्	पावनी
३३	छ	त्वक्	दक्षिणस्तनम्	छगली
३४	ल	चक्षुः	वामस्तनम्	पूतना
३५	आ	श्रोत्रम्	क्षीरम्	मोटरी
३६	स	उपस्थः	जीवः	परमात्मा
३७-३८	: (विसर्गः), ह	पादः	पञ्च प्राणाः	इच्छाशक्तिः
३९	ष	पाणिः	उदरम्	लम्बिका
४०	क्ष	वाक्	नाभिः	संहारिका
४१	म	गन्धः	नितम्बः	महाकाली
४२	अनुस्वार	रसः	शुक्रः	भैरवी
४३	श	रूपम्	गुह्यम्	कुसुमायुधा
४४	त	स्पर्शः	उरुयुग्मः	तारा
४५	ए	शब्दः	दक्षजानुः	ज्ञानम्
४६	ऐ	आकाशम्	वामजानुः	क्रिया
४७	ओ	वायुः	दक्षजङ्घा	गायत्री
४८	औ	तेजः	वामजङ्घा	सावित्री
४९	द	जलम्	दक्षप्रपदः	दहनी
५०	फ	धरातत्त्वम्	वामप्रपदः	फेत्कारिका

मालिन्याः फलम् - इत्थमस्य क्रमं ज्ञात्वा प्रयोजनस्याकांक्षा सम्भवति। मालिनी न केवलं पाठक्रमः वर्ततेऽपितु शङ्करस्य अनन्या शाङ्करीशक्तिरपि विद्यते। अस्याः प्रारम्भ एव

शाक्तकरणाद्भवति। उक्तश्च प्रागेव – "न्यसेच्छाक्तशरीरार्थं भिन्नयोनिं तु मालिनीम्।" एकोनविंशाधिकारेऽस्याः प्रयोगविधिं निगद्य फलमप्युक्तं वर्तते। अन्याः सर्वाः लौकिकालौकिकशक्तय अस्याः साधकस्य अधीनाः भवन्ति। सर्वोत्तमा सिद्धिः वाक्सिद्धिः जायते –

"वाक्सिद्धिर्जायते देवि सर्वलोकसुदुर्लभा।
वाक्सिद्धेर्नापरा सिद्धिरुत्तमा भुवि जातुचित्॥"[1]

अत्र ध्यातव्यं वर्तते वाण्याः भौतिकस्वरुपेण सह आगमशास्त्रमिदं पारमार्थिकसत्तां विशेषरूपेण महत्त्वं प्रददाति। सम्पूर्णेऽस्मिन् शक्तिज्ञानक्रमे गुरोर्महत्त्वं सुतरामेव। गुरोराज्ञया साधनां कुर्वन् साधकः यथाऽभिलषितं लौकिकी सिद्धिः (शास्त्रमिदं लौकिकं सुखमपि सुखमेव स्वीकरोति न तु अन्येषामिव भ्रमः मिथ्या वा) सर्वोत्तमां सिद्धिं प्राप्नोतीत्युक्त्वा उपसंह्रियते। –

"अनुपालितगुर्वाज्ञाः सिद्धिं प्राप्स्यन्त्यनुत्तमाम्।
भुक्त्वा यथेप्सितान्भोगान्यात्यन्ते परमं पदम्॥"[2] इति शम्।

सन्दर्भग्रन्थः –

- परमेशमुखोद्भूतं 'मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्',
  आचार्यपरमहंसमिश्रकृत भाषाभाष्यसहितः

*****

---

[1] तत्रैव, पृ. -३१३

[2] तत्रैव, पृ. -३१६-३१७

चरक संहिता के निदान स्थान में वर्णित रोग निदान सम्बन्धी शब्दों की व्याख्या

डॉ. विजय कुमार श्रीवास्तव
असिस्टेंट प्रोफेसर
काय चिकित्सा, आयुर्वेद संकाय
आई.एम.एस.
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी।

गरिमा
शोध छात्रा
काय चिकित्सा, आयुर्वेद संकाय
आई.एम.एस.
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आयुर्वेद अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। प्राचीन आचार्यों ने इसे शाश्वत कहा है और इसके लिए तीन अकाट्य युक्तियाँ भी दी हैं–

''सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात् स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभावनित्यत्वात्, ।' (च0सू0अ030)

अर्थात् आयु और उसका वेद (ज्ञान) अनादि होने से अनादि है क्योंकि आत्मा के समान सृष्टि भी अनादि है।

'आदिर्निस्त्यात्मनः क्षेत्र पारम्पर्यमनादिकम्'

(च0शा0अ0 1)

सृष्टि आरम्भ से ही जड़ और चेतन दो प्रकार की रही है। इन दोनों का ही सम्बन्ध काल या समय से रहता है किन्तु चेतन पदार्थ में जब तक चेतना का अनुबन्ध रहता है उस अवधि को आयु कहते हैं। यथा–

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यापैरामुच्यते।। (च0सू0 1/42)

इस आयु सम्बन्धी प्रत्येक ज्ञेय विषयक ज्ञान (वेद) को आयुर्वेद कहते हैं। यथा–

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। (च0सू0)

मानव या प्राणिमात्र सृष्टि के आरम्भ से ही अपने हित या अहित का ज्ञान रखता आया है, अपनी आयु की वृद्धि और हानि करने वाली वस्तुओं का ज्ञान भी और उत्तरोत्तर नवीन उपायों का अनुसन्धान करता आया है। इस प्रकार आयु (जीवन) और वेद (ज्ञान) दोनों सदैव रहे हैं और रहेंगे। अतः आयुर्वेद नित्य है। आयु के लिए हितकर तथा अहितकर एवं उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए सुख, दुःख तथा अवस्थानुरूप आयु के लक्षण इत्यादि साधनों तथा फलों से युक्त आयु को जो प्राप्त करता है अथवा उसका ज्ञान प्राप्त करता है, उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद शब्द 'आयुर्जीवितमुच्यते' विद् ज्ञाने धातु अथवा विदलृ लाभे धातु से बना है। हमारे शास्त्रों में 18 प्रकार की विधाएँ बतायी गयी है, जिनमें एक आयुर्वेद भी हैं–

4– वेद
6– वेदांग
1– न्याय
1– पुराण
1– मीमांसा
1– धर्मशास्त्र
1– धनुर्वेद
1– आयुर्वेद
1– गन्धर्व वेद
1– अर्थशास्त्र

आयुर्वेद में काय चिकित्सा प्रधान ग्रन्थ चरक संहिता है। चरक संहिता को आयुर्वेद का आकर ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। चरक संहिता आचार्य चरक द्वारा रचित ग्रन्थ है। चरक का समय 2–3 शती ई0पू0 है। चरक संहिता पर चक्रपाणिदत्त की 'आयुर्वेददीपिका' टीका है। चरक संहिता में आठ स्थान हैं, जो निम्नवत् हैं–

	स्थान	अध्याय
1.	सूत्र स्थान	30 अध्याय
2.	निदान स्थान	8 अध्याय
3.	विमान स्थान	8 अध्याय
4.	शारीर स्थान	8 अध्याय
5.	इन्द्रिय स्थान	12 अध्याय
6.	चिकित्सा स्थान	30 अध्याय
7.	कल्प स्थान	12 अध्याय
8.	समाधि स्थान	12 अध्याय

इस प्रकार चरक संहिता में 120 अध्याय है। चरक संहिता के दूसरे स्थान में निदान स्थान का वर्णन किया गया है जिसमें आठ अध्याय है। निदान के द्वारा रोगों के हेतु एवं लक्षणों का ज्ञान होने पर ही चिकित्सा सफलता पूर्वक की जा सकती है इसमें सामान्यतया व्याधि जनक एवं व्याधि बोधक दोनों अर्थों को ग्रहण किया जाता है। व्याधि उत्पादक कारण को हेतु एवं व्याधि बोधक (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति) कारण को निदान कहा गया है।

इह खलु हेतुनिर्मित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं
निदानमित्यनर्थान्तरम्। तत्रिविधम्–असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः, प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति।

यह हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान, निदान ये सब एक ही अर्थ के बोधक हैं पर कभी–कभी इन हेतु आदि शब्दों का प्रयोग भिन्न–भिन्न अर्थ में भी होता है। जैसे–हेतु शब्द कर्ता के प्रयोजक अर्थ में प्रयुक्त होता है, यथा–तत्प्रयोजकों हेतुश्च। (2) निमित्त शब्द शकुन

अर्थ में प्रयुक्त होता है। (3) आयतन शब्द का स्थान अर्थ में प्रयोग होता है। यथा–दशैवायतनानि स्युः (च0सू0अ0 29) (4) कर्ता का प्रयोग क्रिया की स्वतन्त्रता में होता है। (स्वतन्त्र कर्ता) (5) कारण शब्द का प्रयोग कार्य (रोग), शरीर के नियत पूर्ववृत्ति माता–पिता में (6) प्रत्यय का प्रयोग लट् तिप् सुप आदि के विषय में और विश्वास में, (7) समुत्थान शब्द का प्रयोग उन्नति, उद्गमन, उत्सर्ग अर्थ में (8) निदान शब्द का निश्चय अर्थ में (यथा–अद्य ते निदानं (निश्चयं) करिष्यामि) प्रयोग किया जाता है। इसलिए हेतु, निदान आदि शब्द पर्याय बनकर जिस एक अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, उसे निदान कहा जाता है। (एतैः शब्दैर्योऽभिधीयते तन्निदानमिति) इस निदान के भिन्न–भिन्न विद्वानों ने कई प्रकार बताए हैं, परन्तु चरक ने तीन को ही प्रधान माना है, क्योंकि इन तीनों के अन्दर ही सबका समावेश हो जाता है–

अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति–आग्नेयाः, सौम्याः वायव्याश्चः द्विविधाश्चापरे–राजसाः तामसाश्च।

इन तीन हेतुओं से तीन प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं (1) अग्नेय (पित्तज), (2) सौम्य (कफज) (3) वायव्य (वातज)। दो प्रकार के और अन्य रोग होते हैं–राजस और तामस। रोग ज्ञान के लिए निदान पंचक का ज्ञान परम आवश्यक है। ये पाँचों अलग–अलग तथा मिलकर भी रोग का ज्ञान कराते हैं।

''तस्योपलब्धिर्निदानपूर्वरूपलिंगोपशय संप्राप्तितः।''

ये निदान पंचक हैं–निदान, पूर्वरूप, लिंग, उपशय एवं सम्प्रति।

कुछ का कहना है कि जब ये पृथक–पृथक रूप से ही रोगों का ज्ञान कराते हैं तो पांचों के कहने की क्या आवश्यकता तो इस अन्याय 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' से किसी एक प्रमाण के सिद्ध वस्तु को दूसरे या तीसरे प्रमाण से सिद्ध करने से उसकी और अधिक पृष्टि हो जाती है। जैसे–''पर्वतो बह्निमान् धूमात्' इस अनुमान से पर्वत में अग्नि सिद्ध हो जाने पर भी प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा उसका ज्ञान होता ही है, उसी प्रकार एक निदान या पूर्णरूप आदि से व्याधि का ज्ञान हो जाने पर भी अन्य चारों से उसकी पुष्टि होती है। वस्तुतः बिना पांचों के रोगों का उत्तम ज्ञान नहीं होता है।

निदान–'तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे' सु0स0

यहाँ निदान कारण को कहते हैं। यहाँ निदान शब्द से निमित्त कारण लिया गया है। निदान शब्द।

पूर्वरूप–'पूर्वरूप प्रागुत्पत्ति लक्षणं व्याधेः' व्याधि की उत्पत्ति के पूर्व जो लक्षण होते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहते हैं। पूर्वरूप रोगावस्था में पूर्वरूप से व्यक्त नहीं होते हैं। कुछ स्पष्ट होते हैं तथा कुछ स्पष्ट नहीं होते हैं। यह तथ्य दोषों की प्रबलता या दुबर्लता पर निर्भर रहता है जब अधिक या सभी पूर्वरूप रोगावस्था में व्यक्त हो जाता हैं तो रोग असाध्य होता है। कहा भी है–'पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येन मृत्युर्ज्वरपुरः सरः।' (च0इ0अ05)

'अन्यस्मापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्। विशत्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्।' (च0इ0अ0 1)

लिंग या रूप 'प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिंगम्'

उत्पन्न हुए रोगों के लक्षण को लिंग कहते हैं। लक्षणों के आधार पर रोग का पूर्वरूप से ज्ञान होता है और लक्षण के आधार पर ही रोगों की साध्या–साध्यता का भी ज्ञान हाता है। यथा–'हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्यानि यस्य वै। न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्।' (च0सू0अ0 10)

यदि लिंग (लक्षण) न बताया जाए तो चिकित्सा में साध्यासाध्यता का ज्ञान ही न होगा और बिना लक्षण जाने व्याधियों की चिकित्सा उचित रूप से नहीं हो सकती है।

उपशय

'गूढ़लिंगं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत।'

जिस व्याधि का लक्षण छिपा हो, उसकी परीक्षा उपशय और अनुपशय के द्वारा करनी चाहिए। आज कल रोग का ठीक पता नहीं चलता है तो रक्त, थूक, मूत्र–मल आदि की परीक्षा कर रोग का निश्चय किया जाता है। प्राचीनकाल में तथा आजकल भी चिकित्सक वर्ग उपशय एवं अनुपशय द्वारा व्याधियों का निदान कर चिकित्सा में सफल होते हैं। उदाहरणार्थ–मलेरिया रोग में कुनैन का प्रयोग करने पर लाभ न होने पर अन्य ज्वर का संदेह होना, यदि लाभ हो गया तो मलेरिया निदान होता है। यह ज्ञान उपशय एवं अनुपशय द्वारा होता है।

सम्प्राप्ति–**'व्याधिजनक व्यापार विशेषयुक्त व्याधिजन्मेह सम्प्राप्ति शब्देन वाच्यम्।'**

व्याधि को उत्पन्न करने वाले दोषों के व्यापार के साथ जो रोग की उत्पत्ति होती है, उसे 'सम्प्राप्ति' कहते हैं। रोग का निर्णय हो जाने पर चिकित्सार्थ दोष के अंशांश की कल्पना करना परमावश्यक होता है। सम्प्राप्ति से ही यह ज्ञान सम्भव है कि अमुक रोग में यह दोष और यह दूष्य है या इस रोग में कौन संस्थान दूषित है अर्थात् यह रोग पाचनसंस्थान का या नाड़ीसंस्थान या रक्तवह संस्थान इत्यादि का है।

ज्वर निदान की व्याख्या

इह खलु ज्वर एवादौ विकाराणामुपदिश्यते, तत्प्रथमत्वाच्छारीराणाम्' –सर्वप्रथम ज्वर निदान की ही विवेचना की गई है, क्योंकि ज्वर सभी रोगों में प्रधान माना गया है। जैसाकि आचार्यों ने वर्णन किया है–देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली। ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवतो पुरा।।' (च.चि.अ. 3)

'जन्मादौ निधने चैव प्रायो विशति देहिनम्।
अतः सर्वविकाराणामयं राजा प्रकीर्तितः।।' (सु0उ0अ0 39)
'ज्वरो रोगपतिः पाप्मा।' (अ0हृ0नि0अ0 21)

मनुष्यों के शरीर में आठ कारणों से ज्वर होता है, जैसे–(1) वात, (2) पित्त, (3) कफ, (4) वातपित्त, (5) वातकफ, (6) पित्तकफ, (7) वातपित्तकफ और (8) आगन्तुकारण।

ज्वर शब्द की व्युत्पत्ति

ज्वर–पु0, ज्वर धातु+घञ् रोगे सूत्र
ज्वर का अर्थ–बुखार, ताप
वात–
व्युत्पत्ति एवं व्याख्या–
वात–पु0, वा धातु + क्त प्रत्यय
अर्थ–वायु, वायुदेव, प्रभंजन, वात–पित्त, कफों में प्रथम

पित्त शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या

पित्त–नपु0, अपि + दो + क्त् , अपेः आकारलोपः सूत्रः।

रिक्तपित्त निदान की व्याख्या

ज्वर के व्याख्या करने के पश्चात् रक्त पित्त की व्याख्या करना अभीष्ट है। क्योंकि 'ज्वर' के बाद रक्त पित्त होता है। यथा–'ज्वर सन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते' (च0नि0अ0)

'पित्त यथाभूतं लोहितपित्तमिति संज्ञां लभते' (च0नि0)

अर्थात् दूषित पित्त को रक्तपित्त कहा जाता है।

रक्त शब्द की व्युत्पत्ति

रक्त –रञ्ज् 'रागे'
अर्थ–लोहित, लाल,

गुल्म निदान की व्याख्या

ज्वर और रक्तपित्त के बाद गुल्म रोग का वर्णन किया जाता है। इस रोग में उदर प्रदेश में एक ग्रन्थि रूप हो जाता है।

यथा–

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी आदि वा चलः।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः।।" (सु0उ0अ0 45)

गुल्म शब्द की व्युत्पत्ति

गुल्म–पुं0, नपुं0, (एकमूलाः संघातजाताः इक्षुप्रभृतयः)

गुड् वेष्टने धातु+मक प्रत्यय कर डल्योरैक्यम् सूत्र

अर्थ–उदरामय अथवा तिल्ली आदि का बढ़ जाना, न पकने वाला फोड़ा, बांधना।

प्रमेह निदान की व्याख्या

रक्तपित्त और गुल्म का वर्णन करने के पश्चात् प्रमेह का वर्णन है। त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) के कोप के कारण 20 प्रकार के प्रमेह रोग होते हैं।

कुष्ठ निदान की व्याख्या

विकृति को प्राप्त हुए सातद्रव्य कुष्ठ के कारण होता हैं। जैसे प्रकोपक कारणों से विकृत तीन दोष वात् पित्त और कफ दोषों के आक्रमण से विकृत हुए दूष्य स्वरूप शरीर--धातु--त्वचा, मांस, रक्त, लसीका चार, इस प्रकार ये विकृत होता हुआ इन सात धातुओं का समूह सात कुष्ठों का उत्पादक होता है। इन कारणों से उत्पन्न हुए और फैलते हुए कुष्ठ सम्पूर्ण शरीर को पीड़ित करते हैं। पर शरीर के जीर्ण होने पर अस्थि, मज्जा, शुक्र, सिरा, धमनी आदि को भी दूषित कर देता हैं इसी को सुश्रुत ने कहा है। यथा–

'एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि काल प्रकर्षतः।
क्रमेण धातून् व्याप्नोति।' (सू0नि0अ0 5)

विभिन्न आचार्यों ने कुष्ठ को निम्नवत् परिभाषित किया है–

'सर्वं कुष्णाति तद्वपुः' (सु0स0)

जो सारे शरीर को नष्ट कर दे उसे कुष्ठ कहते हैं।

'त्वचः कुर्वन्ति वैवर्ण्यम्'' (च0स0)

जिसमें त्वचा विकृत हो जाती है उसे कुष्ठ कहते हैं।

'हविः प्राशान्मेहकुष्ठयोः' (आयु0 दी0)

कुष्ठ शब्द की व्युत्पत्ति–

कुष्ठ–नपु., कुष् धातु + कथन् प्रत्यय (गलत्कुष्ठाभिभूताच सूत्र भतृ0 1/90)

कुष्ठ का अर्थ–कोढ़

शोष निदान की व्याख्या

इस रोग से रसादि धातुओं का शोषण हो जाता है इसलिए इसे शोष कहते हैं। इसका दूसरा नाम क्षय भी है। क्योंकि अनुलोम या प्रतिलोम गति से सभी धातुओं का क्षय हो जाता है और कार्य करने की शक्ति का भी क्षय हो जाता है। इसका तीसरा नाम राजयक्ष्मा भी है, क्योंकि सबसे पहले यह राजा चन्द्रमा को हुआ था और यक्ष्मा रोगों में राजा है इसलिए भी राजयक्ष्मा कहा जाता है। इसी तथ्य को सुश्रुत ने भी बताया है; यथा–

अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः। दुर्विज्ञेयोशोषो व्याधिर्महाबलः।। संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधियते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते पुनः।। राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः। तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः।।' (सु0उ0अ0)

आयुर्वेद में शोष या यक्ष्मा रोग होने के चार कारण है–(1) साहस, (2) सन्धारण, (3) क्षय और (4) विषम भोजन।

शोष शब्द की व्युत्पत्ति

शोष–पु0 शुष् धातु + घञ् प्रत्यय

अर्थ–सूखे का रोग, गरमी, खुश्की

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास–आचार्य प्रियव्रत शर्मा, प्रकाशन–चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी।
2. चरक संहिता–चक्रपाणि दत्त विरचित आयुर्वेददीपिका टीका
3. चरक संहिता–विद्योतिनी टीका, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी
4. सुश्रुत संहिता– शम्भूनाथ पाण्डे शास्त्री
5. अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग हृदयम्–अरुणदत्त की सर्वांग सुन्दरी टीका
6. शब्दकोश–वामन शिवराम आप्टे
7. शब्दकोश–डॉ0 उमा प्रसाद पाण्डे, कमला प्रकाशन, नई दिल्ली।

*****

अष्टाङ्ग योग विमर्श

कृष्णानन्द सिंह
शोधच्छात्र, धर्मागमविभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अग्रिम 21 जून 2015 को प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस के शुभ अवसर पर हम गौरवान्वित एवं उल्लसित हैं, कि विष्व एक सूत्र में माला बनने जा रहा है, और उस माला का सुमेरू भारत होगा। यह योग दिवस स्वच्छ भारत मिषन से स्वच्छ विष्व मिषन की ओर एक कदम है। शुचिता मुख्य दो हैं–बाह्य एवं आन्तरिक। बाह्य स्वच्छता में भारत भले स्थानच्युत प्रतीत होता है लेकिन आन्तरिक स्वच्छता में दुनिया में सबसे ऊपर। आन्तरिक षुचिता से अज्ञान का क्षय एवं विवेक ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है विवेकज्ञान के लिए अध्यात्मषास्त्र अर्थात् योग दर्षनादि द्वारा बुद्धिगत दोषों को दूर किया जाता है। वाक्यपदीयकार बह्मकाण्ड के कारिका में कहते हैं **कायवागबुद्धिविषया ये मलाःसमवस्थिताः। चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः।**

पतंजलि कहते हैं कि योग के अनुष्ठान करने से अषुद्धि का नाष ज्ञान का प्रकाष होता है। **"योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः"** और विवेक ख्याति से मुक्ति मिलती है, मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है, और योग दर्षन का यही लक्ष्य है। भारतीय वाङ्मय में आध्यामिक और धार्मिक सन्दर्भ में जिन शब्दों का प्रयोग विशेष रूप से मिलता है उनमें योग शब्द शी है। योग शब्द बहुत प्राचीन है और इसका उपयोग इतना व्यापक हुआ है कि इसके अध्ययन और व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक अर्थ उपलब्ध हैं।

ऋग्वेद में "योग" शब्द अनेक स्थलों पर भिन्न–भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं वह अश्वों को रथो के साथ जोड़ने का द्योतक है[1] कहीं अप्राप्य वस्तु की प्राप्ति का।[2] योग नाम जुड़ने या मिलने का ही है। जब दो सजातिय तत्व मिल जाते हैं, तब उसका नाम योग हो जाता है। व्याकरण शास्त्र में योग से तीन धातुएँ प्राप्त होती हैं। युज् समाधौ (दिवादी गण 4/66) चित्त स्थिर करना, मन को रोकन के अर्थ में। युजिर् योगे (रूधादिगण 6/6) जुड़ना, मिलाप करना एकत्र करने के अर्थ में एवं युज् संयमने (चुरादी गण 10/231) सयंत करना, बांधना, वश में रखने के अर्थ में।[3] इस प्रकार अपने व्युत्पतिमुलक अर्थ में योग शब्द का सामान्य अर्थ संयुक्त होने से है। उस शब्द के जितने भी अर्थ है उन सब में मिलना है या उदाहरण के लिए फलित ज्योतिष में ग्रहों और नक्षत्रों की विशेष स्थिति को योग कहते हैं ऐसे अवसर पर जिनमें दो या दो से अधिक नक्षत्र से युक्त होकर दुःखद या सुखद स्थितियों का निर्णाण करते हैं ज्योतिष में योग कहलाता है। गणित के क्षेत्र में भी दो या कई राशियों या अंकों के जोड़ के लिए योग शब्द प्रयोग होता है। योग का अर्थ उपाय भी है। भारतीय नीति में योग साम, दाम, दण्ड और भेद ये चारों उपाय· योग ही कहलाता है। योग के बिना किसी भी वस्तु की प्राप्ति असंभव बतायी गयी है। अमरकोशकार योग का अर्थ कवच, उपाय, साम दान नीति, चित्त की चंचलता को रोकना एवं युक्ति के रूप में किया

है। जो इस प्रकार है—योगःसंहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु।[4] आयुर्वेद नें दो ओषधियों के परस्पर मिलने को योग कहा है। वेदान्त में योग का उद्देश्य आत्मा और परमात्मा का मिलन कराना है किन्तु पातंजलयोग दर्शन में चित्तवृत्तियों का निरोध को योग कहा गया है।[5] अर्थात् पातंजलमत में योग का अर्थ जोड़ना नहीं बल्कि अलग करना है जैसा कि भोज कहते हैं कि "योग दर्शन में योग वस्तुतः वियोग (अलग करने) का काम करता है। यह वियोग आत्मा का प्रकृति से होता है।[6] भारतीय दर्शन का इतिहास में दास गुप्ता ने भी कहा है कि पातंजलयोग का आदर्श शरीर एवं मन के समस्त व्यापारों का पूरा निरोध करने वाला पूर्ण अतिशयतावाद है।[7] योगभाष्यकार व्यास ने पतंलजि का समर्थन करते हुए योग को समाधि बताकर चित्तवृत्ति निरोध को एकार्थक माना है। आचार्य शंकर ने इसीलिए योग को समाधि, समाधन, मनःसमाधन एवं चित्तसमाधन के अर्थ में प्रयोग किया है। गीता में प्रयुक्त योग शब्द का यथास्थान सविस्तार वर्णन है।[8] उपनिषदों में योग को परिभाषित अनेक स्थलों पर हुआ है। जैसे—कर्मयोग का सर्वप्रथम उल्लेख इशोपनिषद् के द्वितीय मन्त्र में अनुशीलन करने पर प्राप्त होता है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं और मन निश्चल बुद्धि के साथ आ मिलता है, उस अवस्था को परम गति कहते हैं। इन्द्रियों की स्थित धारणा ही योग है। जिसकी इन्द्रियां स्थिर हो जाती हैं, वह अप्रमत्त अर्थात् प्रमादहीन हो जाता है। उसमें शुभ संस्कारो की उत्तपत्ति और अशुभ संस्कारों का नाश होने लगता है। यही अवस्था योगावस्था है।[9] मैत्रायण्युपनिषद् में कहा गया है कि प्राण, मन व इन्द्रियों का एक हो जाना, एकाग्रावस्था को प्राप्त कर लेना, वाह्य विषयों से विमुख होकर इन्द्रियो का मन में और मन का आत्मा में लग जाना, प्राण निश्चल होना ही योग है।[10] योगशिखोपनिषद में कहा गया है कि अपानं और प्राण की एकता कर लेना, स्वरज रूपी महाशक्ति कुण्डलिनी को स्वरेत रूपी आत्मतत्व के साथ संयुक्त करना, सूर्य अर्थात् पिंगला, चन्द्र अर्थात् ईडा स्वर का संयोग करना तथा परमात्मा का जीवात्मा का मिलन योग है।[11] अग्निपुरान में ब्रह्म में चित्त की एकाग्रता को योग कहा है।[12] कुर्म पुरान में वृत्ति निरोध से प्राप्त एकाग्रता को योग मानते हैं।[13] लिंग पुरान में भी चित्त वृत्ति निरोध को ही योग नाम से अभिहित किया गया है।[14] स्कन्ध पुरान में जीवात्मा और परमात्मा का अपृथक्भाव को योग कहा गया है।[15] उपाध्याय यशोविजय मोक्ष के साथ युक्त कराने के कारण योग का निर्वचन करते हैं। आचार्य हेमचन्द्रसूरि योग को मोक्ष का कारण स्वीकार करते हैं, रत्नत्रय का पर्याय मानते हैं।[16] तत्वार्थसूत्र में शरीर, वाणी और मन की क्रिया को योग कहा गया है अर्थात् तीनों के एकाग्रता ही योग है।[17] रांगेय राघवानुसार शिव और शक्ति का मिलन ही योग है।[18] कविराज जी मत में शिव और शक्ति की एकता या सामरस्य ही योग है।[19] आचार्य रजनीश अन्तः की ओर मुड़ना तथा अपने भीतर से जुड़ने को योग मानते हैं।[20] डा० रेले अपनी पुस्तक मिटिरियस कुण्डलिनी में चित्त की एकाग्रता के द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक हुए आत्मा का साक्षात्कार करने को योग मानते है। काणे के अनुसार भारत में योग की मुख्यतः दो धाराएं हैं। एक मन का अनुशासित करने वाला जिसका सम्बन्ध पातंजल योग सूत्र से है। और दूसरा शरीर को अनुशासित करने वाला जिसका गोरक्षशतक व हठयोग प्रदीपिका से है। जिसे योग/राजयोग तथा हठयोग के परिभाषिक नामों से जाना जाता है। पर योग की एक तीसरी है, वह अति मानस धारा जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के चिद्ररूपता—प्रकाशन से है शिवाद्वयवाद में

अभ्युपगत योग का सम्बन्ध इसी तीसरी धारा से जुड़ा हुआ है।[21] तान्त्रिक परम्पराओं के आधारभूत आगम साहित्य में प्रत्येक आगम अपनी विषय वस्तु की दृष्टि से चार हिस्सों में बँटा दीखता है–'ज्ञान', 'योग', 'क्रिया' एवं 'चर्या'। इससे स्पष्ट है कि तन्त्रों की आधारभूत विषयवस्तु का योग एक अनिवार्य अंग है। योग के परम्परा से आदर प्राप्त अनेक अर्थों में एक अर्थ 'प्राप्ति' भी है।[22] क्षेमराज योग को परमतत्व से एकात्मता प्राप्ति रूप मानते हैं।[23] शंकराचार्य ने भी गीताभाष्य के नौवें अध्याय में योग का अर्थ प्राप्ति ही किया है।[24] सांख्य की तरह योग दर्षन भी विवेक ख्याति को मुक्ति का साधन मानता है और विवेक ख्याति की सिद्धि अष्टाङ्योग रूपी साधन के बिना नहीं हो सकती है। इस प्रकार चतुर्विधपुरुषार्थों में परम पुरुषार्थ मोक्ष का साधन है योगांक। ये आठ प्रकार के होते हैं। महर्षि पतंजलि योग सूत्र के द्वितीय पाद में विस्तार से वर्णन करते हुए कहते है–"**यमनिमासनप्रणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टवङ्गानि।**"[25] इन आठों अङ्गों कों अर्न्तरंग एवं बहिरंग दो प्रकार से विभाजित करते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पाँच बहिरंग हैं तथा धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन अन्तरंग हैं।

बहिरंग –

1–यम–"यम "षब्द का निष्पादन 'यम उपरमे' धातु से होता है जिसका अर्थ अभाव है। यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होता है कि किसका अभाव? जवाब मिलता है हिंसा, मिथ्या, स्तेय, मैथुन, परिग्रह इनका क्रमषः अभाव होता है। अर्थात् अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रम्हचर्य अपरिग्रह का क्रमषः परिवृद्धि होता हो उसे यम कहते हैं।[26] "**उपरम्यते निवर्त्यन्ते विषयेभ्यो मनसेन्द्रियाणीति यमास्तेचाहिंसादयः पत्र्चेति।**"[27]

अहिंसा–नञ्पूर्वक हिंस धातु से बनता है। किसी भी प्राणी किसी भी प्रकार से पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा कहलाता है। **तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः।**[28] अर्थात् मन वाणी एवं कर्म द्वारा किसी काल में थोड़ा कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। परन्तु धर्मयुद्ध तो करना ही चाहिए। हमारे देष की तो प्राचीन काल से यह संस्कृति रही है "अहिंसा परमो धर्मः" भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अहिंसा को दैवी सम्पत् गणना किये हैं–

> **अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।**
> **दानं दमश्च यज्ञश्चस्वाध्यायस्तप आर्जवम।।**
> **अहिंसासत्यमक्रोधत्यागः शान्तिरपैशुनम्।**
> **दयाभूतेष्वलोलुप्त्वं माद्रवं ह्रीरचापलम**
> **भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।**[29]

सत्य– जैसा देखा, जैसा सुना और जैसा अनुभव किया वैसा ही व्यवहार करना सत्य कहलाता है। मनुस्मृतिकार सत्यता के व्यवहार का प्रतिपादन किस प्रकार से करना है, व्यख्यायित करते हुए कहते हैं–

> सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
> प्रियं नानृतं ब्रूयात ्एष धर्मः सनातनः।।[30]

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में सत्य को वाङ्मय तप के श्रेणी गणना करते हुए कहते हैं–

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यंप्रियहितं च यत्।

स्वाध्यायभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।[31] अभिनव गुप्त गीतार्थसंग्रह में इस श्लोक की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "सत्य" वह है जो बोलते समय प्रियकर हो तथा और बाद में हितकर हो।

अस्तेय– किसी अन्य के पदार्थ पर अवैध रूप आधिपत्य न करना अस्तेय है। इसके परिणामस्वरूप सभी उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त होने लगते हैं।

ब्रह्मचर्य– विनोवा भावे कहते हैं कि–ब्रह्मणी वेद–विद्यायै, विद्यायै चर्यते, आचर्यते ब्रह्मचर्यम्। अर्थात् ब्रह्म में आचरन करना ही ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह– लिप्सा प्रेरित भोग सामग्री का अतिषय अर्जन न करना "अपरिग्रह" है। इससे शुभ गुणों का विचार मन में स्थिरता आती है

2–नियम– यह शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईष्वर प्रणिधान रूप पाँच प्रकार का होता है।[32]

शौच– शौच का अर्थ पवित्र होता है। यह दो प्रकार का होता है बाह्य एवं आभ्यतर। लेकिन सामाजिक परिषुद्धि के लिए आर्थिक षुचिता (पैसे की) भी रखना अत्यन्त आवष्यक है। पण्डित मदन मोहन मालवीय जी अपने छात्रों को अर्थ शुचिता का न केवल उपदेष देते रहे बल्कि आजीवन उसका पालन भी किया जो इस प्रकार से है–**"यःअर्थेषु शुचिःस शुचिःन मृद्वारि शुचिः"**।

संतोष– सम्यक तुष्टि को ही संतोष कहते हैं। अर्थात् निर्लोभता भी कह सकते हैं। उसके अभाव को असन्तोष कहते हैं। संसारिक विषयसुखों में निरन्तर तृष्णा ही असंतोष को उत्पन्न करती है। तृष्णा से पीड़ित लोग सदा अषान्त चित्त वाले होते हैं। उनको निद्रा भी नहीं आती है और धनाधिक अर्जन में लगे रहते हैं। किन्तु कितना धनसुखोंत्पादक होगा इसकी कोई सीमा नहीं है। किसी ने सत्य ही कहा है कि यदि सौ की इच्छा है तो हजारों प्राप्त करने की सोचता है पुनः करोड़ो प्राप्त करने की सोचता है। पुनः राजा बनने की सोचता है। पुनः चक्रवर्ती बनने की सोचता है चक्रधारी होने पर देवत्व प्राप्त करना चाहता है। पुनः देवेन्द्र बनना चाहता है। पुनः उर्ध्वगति को प्राप्त करना चाहता है लेकिन हाय रे! तृष्णा षान्त नहीं होती है। अतः संतुष्टि अथवा संतोष का होना परमावष्यक है।

"निस्स्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधियो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्वं पुनः।
चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्बध्वास्पदं वाच्छति
ब्रह्मा विषुपदं पुनः पुनरहो आशाविधिं को गतः।।

तप– तप का अर्थ द्वन्द को सहन करने से है। यथा–षीतोष्ण, लाभालाभ, जयपराजय इत्यादि का सहन करना ही तप है। तपोद्वन्द सहनम्। द्वन्दष्च जिघत्सापिपासे, **शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठ मौनाकारे च। काष्ठमौनं तु इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायस्याप्रकाशनम्।**[33]

आत्मा और मन को धर्मार्थचरण तथा षुभ गुणों के आचरण रूप तप से निर्गत करना तप है। इससे शरीर एवं इन्द्रियाँ अषुद्धि के कारण दृढ़ होकर सदा रोगरहित होती है।

स्वाध्याय– वेद, स्मृति, पुराण आदि शास्त्रों के द्वारा ईष्वर का निष्चय करना या मोक्ष के प्रति निष्चय करना स्वाध्याय कहलाता है।

ईश्वर प्रणिधान– सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन के प्रेम भाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईष्वर के लिए सर्मपण करना ईष्वर प्रणिधान है। ईष्वर के प्रणिधान से योग साधना के समस्त विध्न समाप्त हो जाते हैं, तथा समाधि की सिद्धि ईष्वर प्रणिधान से ही हाती है।

3–आसन– जिस स्थिति में सुख अनुभव हो उसे आसन कहते हैं।[34] अर्थात् जिससे स्थिरता एवं सुख की प्राप्ति हो वह आसन है। ये अनेक प्रकार के होते हैं।

4–प्राणायाम– प्राण के आयाम को बढ़ाना ही प्राणायाम कहलाता है। श्वास प्रवास की गति का निरोधक जब ज्ञान के द्वारा किया जाता है तो उसे प्राणायाम कहते हैं। यह मुख्यतः तीन प्रकार का होता है। रेचक, पुरक, कुम्भक। हठयोग प्रदीपिका में आठ प्रकार बताये गये हैं–

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारीशीतली तथा।
भस्त्रिका भाम्ररी मुर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः।।

5–प्रत्याहार– इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकारकारित सा हो जाना ही प्रत्याहार है।[35]

अन्तरंग–

6–धारणा–

चित्त के चाँचल्य को समाप्त करके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका, और जिह्वा के अग्रभाग आदि देंषों पर स्थिर करके ओंकार का जप और उसका विषय, जो परमात्मा है उसका विचार करना धारणा कहलाता है। वस्तुतः पूर्वोक्त पाँच अंगों के सिद्ध हो जाने पर स्वतः ही सिद्ध हो जाती है।

7–ध्यान – यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेद–कदाचनः।।

किसी एक देष में चित्त को एकाग्र करना ही ध्यान कहलाता है।[36]

8–समाधि– उपासक की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें वह शरीर को भी भुला हुआ सा परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है। उस अवस्था में एकमात्र आत्मसंयुक्त ब्रह्मानन्द की उपलब्धि होती है। जगत् का अभास नहीं होता है।

चार प्रकार के योग आर्य संस्कृति में वर्णित हैं।

1. मन्त्रयोग
2. हठयोग
3. राजयोग और
4. लययाग

किसी का अपने इष्टदेव का विषेष मन्त्र जपते हुए उसमें ध्यान लगाने का अभ्यास मन्त्रयोग है। इन्द्रियों को बलपूर्वक अपने विषयों जाने से रोकना हठयोग हैं। भावना ऐसी करना कि जिससे

इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति ही न रहे, वह राजयोग है। इन योगों की पराकाष्ठा में जब मन प्रायः लीन हो जाता है, सभी के अन्त में लययाग सिद्ध होता है।[37] अष्टाङ्गयोग–इसके आठ अङ्गो में से पूर्व के चार--यम, नियम, आसन, और प्राणायाम को हठयोग और उत्तर के चार अङ्गो--प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को राजयोग कहते हैं। दोनों एक दूसरे के अङ्गाश्रित हैं। क्योंकि हठयोग के बिना राजयोग की और राजयोग के बिना हठयोग की सिद्धि नहीं होती है। लेकिन राजयोग ही प्रमुख है क्योंकि राजयोग के रचयिता ने तो स्पष्ट कहा है **"केवलं राजयोगाय हठयोग उपदिश्यते"** मन्त्रयोग एवं लययोग इन्ही के अर्न्तगत हैं। इसके अतिरिक्त तपस्वाध्याय, ईष्वरपगणिधान रूप क्रिया योग यम नियमरूप अङ्गो में आ जाता है। अष्टाङ्योग के अभ्यास से शारीरिक मानसिक और आत्मिक उन्नति होकर क्रम से पत्र्चविभागवाली अविद्या नष्ट होती है। अपविद्या के नाष होने से तज्जन्य अन्तःकरण की अपवित्रता का क्षय होता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे–जैसे साधक अष्टाङ्गो के अनुष्ठान करता है वैसे–वैसे ही चित्त की मलिनता का श्रय होता है और मलिनता क्षय के परिणाम में उसके चित्त में ज्ञान की उत्कृष्टता होती जाती है।

पतंजलि का योग दर्षन राज योग की केवल एक आत्मनिष्ठ प्रणाली है, एक आन्तरिक अनुषासन है, एक नपी तुली पद्धति है, एक बंधा हुआ कठोर साधन सूत्र है जिसमें उत्तरोत्तर चढ़ता हुआ एक कठोर साधन क्रम है, जिसके द्वारा मन को निस्तब्ध करके समाधि में पहुँचाया जाता है जिससे हमारे आत्म–अतिक्रमण के ऐहिक और पारलौकिक दोनों फल प्राप्त हो।

पश्चिमी विद्वानों का ध्यान इस विद्या पर पहले ही गया, प्रसिद्ध विचारक पितरिम ए0 सोरिकिन द्वारा सम्पादित एक बहुत अच्छी पुस्तक "फार्म्स एण्ड टेकनीक्स आफ आल्ट्रयुइस्टिक एण्ड स्पिरच्युिअल ग्रोथ" इसमें कई विद्वानों, निबंधों का संग्रह है। उनमें से एक विद्वान भारतीय योग के बारे इस प्रकार कही है। As vestige of very ancient science, yoge is found everywhere in one from or another, for it is basic to the practical side of every relious tradition in the world. However, it is in India alone and with yoga that we find the ''reliious''science completely worked out, the domain entirely explored to its extreme limit, thanks to this ancient science which existed to its extreme limit, thanks to this amciemt science which existed long before the spread of Hindu. Philosophical doctriness [darshana], India was abje to build the boldest metaphysics that the world has kuown, against them time is impotent. Actually the metaphysicsr not based on someone's rationalisations, but upon experimental scientific data. The moment seems to have arrived when we should again take up this science of esterday and of all time.

[Introduction to the study of yoge by Jacques H. Masui]

जिसका अर्थ इस प्रकार है "यो तो बहुत ही प्राचीन विद्या होने के कारण योग थोड़ा बहुत किसी न किसी रूप में सब जगह मिलता है। ऐसा इसलिए कि संसार की प्रत्येक धार्मिक परम्परा के व्यवहारिक पक्ष के लिए यही आधार है। परन्तु भारत में ही इस विद्या को पूर्ण रूप में देखते है, देखते हैं कि जहाँ तक आगे बढ़ना सम्भव है वहाँ तक इस क्षेत्र में खोज की गयी है, भारत ने

धार्मिक शास्त्र की सृष्टि की है उतना साहसिक कोई शास्त्र पृथ्वी पर नहीं है। काल उसके साथ व्यर्थ ही टकराता है। सच बात तो यह है कि यह दर्शन किसी व्यक्ति के बौधिक छानबीन और विचार विमर्श से नही बना हैं। उसका आधार परीक्षित वैज्ञानिक तथ्य है। अब समय आ गया है कि हम लोग फिर इस विज्ञान को जो पूराना है इसके साथ सनातन है, फिर से अध्ययन का विषय लें।"[38]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अब समय आ गया है कि हम हजारों वर्ष प्राचीन विद्या का आदर करें तथा समूचे जगत् का हित करें क्योंकि, एक बार फिर से विश्व का प्रतिनिधि करने जा रहे हैं। पाश्चात्य जगत् जहाँ भौतिक उन्नति में आगे है वहाँ धीरे–धीरे भौतिकता से भयभीत हो चला है। परमाणु शक्ति से खेल रहा है और भयानक स्थिति को भांप लिया है वह त्राण चाहता है उससे मुक्ति अध्यात्म में ही दिखायी देता है। अध्यात्म की बहुत सी बातें आडम्बर प्रतीत होती हैं, योग ही ठोस और निश्चित और प्रत्यक्ष फलदायक दिखायी देती है।

संदर्भ

1. कदा योगो वाजिनो रासमस्य–ऋ0 वे0 1. 3. 4. 9. एवं योग दर्शन में प्रणिधान की व्याख्या, अनुपमा सेठ, पृ. 3
2. ऋ0 वे0 7,5,4,3 वही0
3. संस्कृत धातु कोष युधिष्ठिर मीमासंक, पृष्ठ 97 संस्करण 3, सन् 2002
4. अमरकोश,तृतीय काण्ड, नानार्थ वर्ग, श्लोक 22,
5. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः योगसूत्र 1/2
6. पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा। भोजवृत्तिः,1/1, रेवती रमणकृत सम्रगयोग पृ. 4
7. दासगुप्त, भारतीय दर्शन भाग।। पृ. 446, प्रथम संस्करण 1963
8. गीता अध्याय 2/ श्लोक, 39, 48, 50, 53; 4/1, 2, 3, 42; 5/1, 4, 5; 6/, 2, 3, 12, 16, 17, 19, 23, 33, 6, 37, 44; 7/1; 9/5 ; 10/7, 18; 11/8; 12/6 11; 13/24; 16/1; 18/33,75।
9. यदा पंचावतिष्ठनते ज्ञानानि मनसा सह।
   बुद्धिश्च न विचेष्टमिति तामाहु परमां गतिम्।।
   तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणम्।
   अप्रमत्तस्तदा भवति योगो प्रभवाप्यसौ।। कठोपनिषद् 2/3/10,11
10. एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
    सर्वभाव परित्यागो योग इत्यभिधीयते।। मैत्राय0 6/25
11. योऽपानप्राणयोरेक्यं स्वरजारेतसोस्तथा।
    सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ।।
    एवंत द्वन्दजालस्य संयोगो योग उच्यते। योगशिखो0 1/68,69
12. ब्रम्हप्रकाशकं ज्ञानं योगस्तत्रैक चिन्तता।
    चित्तवृत्तिर्निरोधोश्च जीवब्रम्हात्मनोःपरः ।। अग्निपुराण183/1,2
13. मय्येक चिन्तता योगो वृत्यन्तरनिरोधतः। कुर्म पुराण 11
14. योगो निरोधो वृत्तेस्तु चिन्तस्य द्विजसत्तमाः। लिंगपुराण /8
15. जीवात्मपरमार्थोऽयमविभागःपरन्तप ।
    स एव तु परो योगःसमासात्कथितस्तव ।। स्कन्दपुराण अध्याय 29
16. चतुवर्गे अग्रणी मोक्षो योगस्य च कारणम्। योगशास्त्र 1/5
17. कायवाड़मनः कर्मयोगः। तत्वार्थसूत्र 6/1
18. रागेय राघव–गोरखनाथअ और उनका युग, पृ. 128

19. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ. 382 एवं काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ पृ. 200
20. योग दर्शन–रजनीश, पृ. 7
21. काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ, नव जीवन रस्तागी, पृ. 202
22. काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ, नव जीवन रस्तोगी, अध्याय 13, पृ. 199
23. ज्ञानं तज्ज्ञेयतत्वानुभवं, योगं तदैकात्म्यप्राप्तिम्। स्व0तं0उ0, भा0 3, पृष्ठ 141 एवं का0शिवा0 की मू0 अव0, पृ. 200
24. "योगः अप्राप्तस्य प्रापणं क्षेमःतद्रक्षणं तद् उभयं वहामि" श्रीमद्भगवद्गीता, शांकरभाष्य अध्याय 9 / 22 गीता प्रेस, पृ. 238
25. योगसूत्र
26. अहिंसासत्यास्तेयब्रम्हचर्यापरिग्रहा यमाः। योग सूत्र
27. पा0 रा0
28. व्यास भाष्य
29. गीता 16 / 1,2,3
30. मनुस्मृति
31. गीता 17 / 15
32. षौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेष्वर प्राणिधानानि नियमाः –योगसूत्र 1 / 2 / 23
33. तत्ववैषारदी ।
34. गीता 6 / 17
35. योगदर्षन हिन्दी व्याख्यासहित 2 / 54 पृ. 67
36. तत्र प्रत्येकतानताध्यानम्। योगसूत्र 1 / 3
37. गीता व्याख्यान माला,प्रथम भाग,महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर षर्मा चतुर्वेदी, पृ. 317
38. योग दर्शन, सम्पूर्णानन्द, पृ. 26, 27

* * * * *

स्त्री रचना परम्परा में पण्डिता क्षमाराव का अवदान

सपना कुमारी
शोधच्छात्रा,
संस्कृत विभाग, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सम्पूर्ण विश्व में प्राचीन भाषा के रूप में प्रतिष्ठित सुरभारती के रूप में जानी जाने वाली संस्कृत भाषा में प्राचीन काल से ही साहित्य रचना होती आ रही है। संस्कृत काव्य–जगत् में वैदिककाल से पुरुष समाज का ही आधिपत्य परिलक्षित होता है, किन्तु वहीं यह भी सर्वमान्य है कि ऋग्वैदिक काल से अधुनातनकालपर्यन्त निरन्तर कवयित्रियों ने भी महत्वपूर्ण अवदान देकर संस्कृत जगत् की श्रीवृद्धि करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से द्विज कुल में उत्पन्न, संस्कृत साहित्य मर्मज्ञा, यशोविभा दैदीप्यमाना पण्डिता क्षमाराव की लेखनी उनके परिनिष्ठित वैदुष्य को प्रमाणित करती है।

आपका जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के सामान्तबाड़ी जनपद के बांबोली नामक ग्राम में 4 जुलाई 1890 ई0 को हुआ था। आपके पिता शंकर पाण्डुरंग संस्कृत के विद्वान् थे किन्तु क्षमाराव के बाल्यावस्था में ही उनका देहावसान हो गया था। विल्सन कॉलेज (बम्बई) में कुछ दिनों तक क्षमाराव ने अध्ययन किया था। आपने संस्कृत में लगभग पचास पुस्तकें लिखीं। अद्वितीय प्रतिभा की धनी पण्डिता क्षमाराव की काव्य प्रतिभा के सम्बन्ध में डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी ने कहा है–

> **''प्राच्यं प्रातीच्यं समुपास्य शास्त्रं गद्यं च पद्यं तनुतेऽनवद्यम्।**
> **कथाप्रबन्धे रुचिमादधाना 'क्षमा' क्षमेवाक्षयमोदमूर्त्तिः।।''[1]**

पण्डिता क्षमाराव यूरोप के अनेक साहित्यकारों, मनीषियों के सम्पर्क में भी आईं। अंग्रेजी साहित्यकार सॉमरसेट मॉम ने क्षमाराव को संस्कृत में लिखने की प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप क्षमाराव ने अनेक ग्रन्थरत्न संस्कृत–साहित्य को प्रदान किये। समस्त स्वातन्त्र्य–आन्दोलन की वे साक्षी रहीं। उनका राष्ट्र प्रेम एवं मातृभूमि के प्रति रागात्मकता उनकी साहित्यिक रचनाओं से अभिव्यक्त होती है।

अयोध्या की **'संस्कृत कल्याण संस्था'** ने 1938 में उन्हें **'पण्डिता'** की उपाधि से विभूषित किया तथा 1948 में प्रकाशित अपने स्वर्गीय पूज्य पिता के जीवनचरित 'शंकरजीवनाख्यानम्' से वह **'साहित्य चन्द्रिका'** की 'मानद उपाधि' से समादृत हुईं।[2] समय–समय पर आप विभिन्न पुरस्कारों से मण्डित होती रहीं इस क्रम में संस्कृत के साथ–साथ आंग्ल भाषा पर भी आपका पूर्ण अधिकार था, इस कथन की पुष्टि आपके प्रस्तुत रचनाओं से होती है– **'दी ॲम्युलेट', 'दी गेस्ट्स आर वेटिंग', 'रायल आपेरा', 'ला गियोकोण्डा'** इत्यादि। आपने **'ला गियोकोण्डा'** ग्रन्थ का संस्कृत पद्यों में अनुवाद भी किया है।

---

[1] कवयित्री– कण्ठाभरणम्, पृ0सं0 227
[2] कवयित्री– कण्ठाभरणम्, पृ0सं0 101

आपने संस्कृत–साहित्य की अभिवृद्धि के लिए बहुविध प्रयास किए, जिसके परिणामस्वरूप निश्चित रूप से संस्कृत–साहित्य की उन्नति हुई है। आपकी संस्कृत काव्य रचनाएँ निम्नांकित है, जिसका सार भाग कुछ इस प्रकार है–

1. **सत्याग्रहगीता** :– यह ग्रन्थ 18 अध्यायों में विभाजित है। सत्याग्रहगीता पं0 क्षमाराव की प्रकाशित ग्यारह काव्यकृतियों में अन्यतम है। इसकी प्रसिद्धि का अनुमान हम इसी से लगा सकते हैं कि अभी तक इसके चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम सन् 1932 में द्वितीय सन् 1956 में, तृतीय अनुवाद सहित 1957 में, चतुर्थ सानुवाद 1958 में।

   सत्याग्रह आन्दोलन के संचालक राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के उपदेशों और सिद्धान्तों को 'सत्याग्रहगीता' में उद्घाटित किया गया है। 'गीता' के अठारह अध्यायों की भाँति कवयित्री ने इस रचना को अठारह अध्यायों में निबद्ध करते हुए महात्मा गाँधी को स्वतन्त्रता आन्दोलन का महान् नेता बताया है। अपनी इस काव्यकृति में क्षमाराव ने महात्मा गाँधी के स्वतन्त्रता संग्राम में दिये गये अवदानों पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है।

2. **शंकरजीवनाख्यानम्**:– शंकरजीवनाख्यानम् में सत्रह उल्लास है। सत्रह उल्लासों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं– बाल्यवर्णन, विद्यारम्भवर्णन, विद्याभ्यासवर्णन, विद्यासमाप्तिवर्णन, काव्यसंशोधन, श्रुतिप्रशंसा, द्वितीयपाणिग्रहण, प्राचीनलेखगवेषण, लोकसंकटनिवारण, शंकरप्रकृतिवर्णन, राजप्रकोपसमुत्थान, चिन्तासन्तानवर्णन, गिरिनिवासवर्णन, व्याख्यानविलास, समाज–परिष्करण, सुधामपुरीनिवास, दीपनिर्वाण।

   इस ग्रन्थ में कवयित्री ने अपने पिता शंकर का जीवन–चरित अनुष्टुप् छन्दों में लिखा है। यह ग्रन्थ 840 पद्यों में निबद्ध है। यह 1939 में न्यू मरीनलेन मुम्बई से प्रकाशित हुआ है। 'शंकरजीवनाख्यानम्' ग्रन्थ पं0 क्षमाराव के वैदुष्य को प्रमाणित करती है। यही कारण है कि नृसिंह शर्मा के मुख से क्षमाराव की प्रशंसा में बरबस ये शब्द निकल पड़े–

   > **"गीर्वाणवाणीनिपुणा लेखिकेयं रसान्विता।**
   > **सुवर्णनिधिसंयुक्ता क्षमेयं क्ष्मेव भाति मे।।**
   > **प्राच्यसंस्कृतिविज्ञानज्ञानद्वारमपावृतम्।**
   > **नखिलैस्तत्प्रवेष्टव्यमार्यभूतिहितैषिभिः।।**
   > **कृतिनं पण्डितं मन्ये यस्य कन्या क्षमासमा।**
   > **क्षमापि कृतिनी नूनं शंकराल्लब्ध–सम्भवा।।"**[1]

3. **मीरालहरी**:– पं0 क्षमाराव द्वारा विरचित 'मीरालहरी' दो खण्डों (पूर्वखण्ड एवं उत्तरखण्ड) में विभक्त गीतिकाव्य है। इस ग्रन्थ में कृष्ण–भक्त 'मीरा' की जन्म से अन्त तक की जीवनगाथा शार्दूलविक्रीडित छन्दों में गुम्फित है। 'मीरालहरी' गीतिकाव्य की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है–

   > **"तत्पूर्वेक्षितभूरिलोकनिचया विस्मेरचक्षुर्द्वया**
   > **मीरा प्राह किमेतदम्ब वद मे यात्रास्ति वैवाहिकी।**
   > **मातः कुत्र पतिर्ममास्ति ननु ते तिष्ठत्यसौ मन्दिरे**
   > **पश्येति प्रतिभां विभोर्निरदिशत्कृष्णस्य कोणस्थिताम्।"**[1]

---

[1] शांकरजीवनाख्यानम्, पृ0सं0 2

बाल्यावस्था में ही विवाह यात्रा को देखकर मीरा ने माँ से पूछा कि मेरा पति कहाँ है? माता ने कृष्ण भगवान् की ओर संकेत करते हुए कहा कि यही तुम्हारे पति हैं। उसी दिन से मीरा श्रीकृष्ण की आराधना में लीन हो गई।

4. **उत्तरसत्याग्रहगीताः**— यह काव्य रचना 1944 में न्यू मरीनलेन मुम्बई में प्रकाशित हुई। यह स्वतन्त्रता संग्राम, विशेषतः सत्याग्रह आन्दोलन का क्रमिक इतिहास प्रस्तुत करती है। इसे वर्ष 1944 की संस्कृत की सर्वश्रेष्ठ कृति घोषित किया गया है।
5. **श्रीतुकारामचरितम्**:— 1950 में प्रकाशित यह नवसर्गात्मक संस्कृत–काव्य है, जो 435 श्लोकों में निबद्ध है। इस महाकाव्य के नौ सर्गों के नाम क्रमशः इस प्रकार है— मूलपुरुषप्रशंसनम्, जन्मादिसंकीर्तनम्, वाणिज्य विनाशः, शकुन्तसन्तर्पणम्, दिनचर्यावर्णनम्, हरिगणेशभजनम्, नष्टप्रत्यागमः, शिवाजी–समागमः, प्रसन्नवैकुण्ठः।

ग्रन्थ में महाराष्ट्र के सन्त श्री तुकाराम जी के जीवन–चरित्र का वर्णन अत्यन्त भावमय शैली में किया गया है—

> **"बाल्ये विवाहं कृतवान् पितास्य ग्रामस्तथा कन्यकया कयाचित्।**
> **सा श्वासरोगाच्छयनीमग्ना कदापि संसार सुखं न भेजे।।**
> **अतः कुभार्यावलिनामभाजा पुनर्विवाहोऽस्य कृतः पितृभ्याम्।**
> **एवं तुकाराममिमे प्रपद्य व्यराजतां सिन्धुमिवापगे द्वे।।"**[2]

6. **ग्रामज्योतिः** — आधुनिक शैली में रचित 'ग्रामज्योतिः' पद्यात्मक काव्य में तीन कथाएँ हैं, जो राष्ट्र प्रेम से ओत–प्रोत है। इन कथाओं के नाम हैं— रेवायाः कथा, कटुविपाकः एवं वीरभा। यह ग्रन्थ 1954 में 8, भूपेन्द्र वसु एवेन्यू, कोलकाता से प्रकाशित हुआ है।

पण्डिता क्षमाराव जी की इस कथा में जब ग्रामाधिप जैसे व्यक्ति के ह्रदय में राष्ट्रप्रेम की भावना जागृत हो सकती है, तो निश्चित ही यह रचना समाज के अन्य व्यक्तियों के ह्रदय में अपना अमिट छाप छोड़ी होगी। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि आपने संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि करने के साथ–साथ अप्रत्यक्ष रूप से समाज सेवा के गुरुतर दायित्व का निर्वहन किया। पवित्रात्मा पण्डिता क्षमाराव 22 अप्रैल 1954 को प्रातः गीतापाठ करते समय असार संसार का त्याग करके अपने शाश्वत प्रियतम से जा मिलीं, किन्तु अपनी काव्य प्रभा से वह युगों–युगों तक साहित्याकाश में कलाधर की भाँति प्रकाशित होती रहेंगी—

> **"यथा विशाले गगने विभाति निशान्धकारेऽमलचन्द्रिकाऽलम्।**
> **तथैव साहित्यशुभाम्बरेऽस्मिन् चकास्ति राकेशकला क्षमेयम्।।"**[3]

अन्ततः इन समस्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि संस्कृत विदूषियों में अग्रगण्य कही जाने वाली पण्डिता क्षमाराव जी ने संस्कृत साहित्य के समीक्षात्मक, कल्पनात्मक, आलोचनात्मक आदि सभी पक्षों पर अपने चिन्तन और वैदुष्य का बहुत ही सुन्दर परिचय दिया है। अतः संस्कृत साहित्य के अभिवृद्धि में उनका अवदान चिरस्मरणीय है।

---

[1] मीरालहरी, पूर्वखण्ड।
[2] श्री तुकारामचरितम्, श्लोक सं0 10, 11
[3] कवयित्री— कण्ठाभरणम्, पृ0सं0 218

सन्दर्भित ग्रन्थ सूची :

1. आधुनिक संस्कृत कवयित्रियाँ, दुबे डॉ0 अर्चना कुमारी, नवजीवन पब्लिकेशन, निवाई
2. संस्कृत साहित्य का इतिहास 'ऋषि' शर्मा डॉ0 उमाशंकर, प्रकाशन– चौखम्बा भारती अकादमी
3. संस्कृत–वाङ्मय का बृहद् इतिहास, आचार्य उपाध्याय श्री बलदेव, प्रकाशन– उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ।

* * * * *

यौगिक क्रियाओं द्वारा मानसिक स्वास्थ्य संवर्धन एवं चिकित्सा क्रम

प्रतिभा कुमारी
शोध छात्रा, कायचिकित्सा विभाग, आयुर्वेद संकाय,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान,काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

व्यक्ति के सामान्य सुख–चैन पूर्ण जीवन में, अत्याधुनिक जीवन शैली के कारण नाना प्रकार के रोगों का आगमन हो रहा है जिसमें मानसिक रोग प्रमुखता से उभर कर सामने आ रहे हैं। मानव जीवन के विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों के निवारण में कुछ योगाभ्यास एवं तत्सम्बन्धी यौगिक क्रियाएं अत्यन्त लाभकारी एवं प्रशंसनीय हैं। मानसिक विकृति उत्पन्न होने के कई कारण होते हैं, जैसे अनियमित दिनचर्या, अत्यधिक श्रम, पारिवारिक कलह, काम की असन्तुष्टि का होना या उसी में लिप्त रहना, ईर्ष्या, लोभ, मोह इत्यादि। मानसिक तनाव का मुख्य कारण है–अधिक सोचना। मनुष्य सम्यक् रूप से वर्तमान में रहना भूल चुका है। आज के आधुनिक परिवेश में उसे स्वयं के लिए बहुत कम समय मिलता है या यूँ कहा जाए कि समय मिलता ही नहीं है। 'वर्तमान में जीने' का अर्थ है मन को विश्राम देना, मानसिक तनाव से छुटकारा पाना।

'योग', भारतीय दर्शन का मौलिक एवं प्रमुख अंग है। औपनिषदिक परम्परा में योग को तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वानुभूति के उपाय के रूप में विकसित किया गया है। आगे चलकर पातञ्जल योगसूत्र के माध्यम से योग विषयक ज्ञान को क्रमबद्ध रूप में विकसित करके इसे मानस विज्ञान तथा मोक्षशास्त्र का रूप दिया गया। वस्तुतः वर्तमान समय में योग के विषय में रुचि जागरण का कारण आधुनिक समाज में मानसिक तनाव की वृद्धि तथा तत्जन्य रोगों की दर में वृद्धि होना ही है, क्योंकि मानसिक तनावजन्य समस्याओं के समाधान में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त करने में असफल रहा है, और इस सन्दर्भ में योगाभ्यास से लाभ होने की सम्भावना व्यक्त की गयी है। पूरक चिकित्सा के रूप में योग के प्रति आदर व अपेक्षा में वृद्धि हुई है।

मनुष्य का शरीर उसके मन के अनुसार विनियमित होता है और 'मन', 'जो है वह भी शरीर के अनुसार ही परिवर्तित होता है–**शरीरं ह्यापि सत्त्वमनुविधीयते, सत्वं च शरीरम्।**[1]

आहार आदि का साक्षात प्रभाव मन पर होता है। 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' या 'आहार शुद्धि सत्त्व शुद्धि' मात्र लोक उक्तियाँ नहीं हैं।

योग दर्शन वस्तुतः सांख्य दर्शन का पूरक दर्शन हैं। दोनों की तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि एक ही है। सांख्य में वर्णित ज्ञानात्मक विस्तार का व्यवहारिक अनुप्रयोग योग में प्राप्त होता है। सांख्य दर्शन पर आधारित जीवन–वेद भारतीय चिकित्सा प्रणाली में आयुर्वेद के रूप में प्राप्त है। इस प्रकार यह उल्लेखनीय है कि आयुर्वेद भी योग का अनुषङ्गी है। आयुः+वेदः, इन दो शब्दों के सम्मिलन से आयुर्वेद शब्द की निष्पत्ति हुई है। पुनः आयु की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व, आत्मा का संयोग ही आयु है तथा धारि, जीवित, नित्यग व अनुबन्ध ये आयु के पर्यायवाची है– **शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्य्यायैरायुरूच्यते।**[2]

आधुनिक युग में मनोदैहिक (Pshychosomatic) विकृतियाँ बहुत अधिक मात्रा में मिल रहीं हैं। अनेक रोग जो कल तक विशुद्ध शारीरिक व्याधि माने जाते थे, अब वे मनोदैहिक रोगों में गिने जा रहे हैं। उच्च रक्ताचाप, अम्लपित्त (Dyspepsia), मधुमेह, तमक वास (Asthma), हृद्रोग (Angina), व्रणमय आन्त्रशोथ (Ulcerative colitis), अधीवभेदक (Migrain), पुरुषों में क्लैव्य (Loss of libido), स्त्रियों में रजःवृच्द्ता (Dysmenorrhoea) आदि अनेक रोग मनोदैहिक श्रेणी में आते हैं, और भी अनेक रोग यहाँ तक कि कर्कटार्बुद (Malignancy) को भी मनोदैहिक रोग माना जा रहा है।

मनोदैहिक रोग वे हैं जिनका कारण तो मन (Psych) में रहता है किन्तु व्याधि निष्पत्ति (Manifestation) शरीर (Soma) में होतीं है। संक्षेप में मनोदैहिक रोगों को 'मानस–कारणोत्पन्न' शारीरिक व्याधि मान सकते हैं।

वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा ज्ञात हुआ है कि यौगिक आसनों के अभ्यास से स्वस्थ शरीर में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन आ जाते हैं।

मस्तिष्कगत विद्युत तरंगों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि आसनाभ्यासी साधकों/युवकों के ई0ई0जी (EEG) में अल्फा तरंगों (Alpha Waves) की मात्रा अधिक हो जाती है जिससे प्रतीत होता है कि साधक अधिक मानसिक शक्ति की अवस्था में है। निश्चय ही उच्चतर मानसिक शक्ति रोग प्रतिरोधक क्षमता प्रदान करने में अत्यन्त प्रभावी है।[3]

तीन से छः मास तक योगाभ्यास करने वाले साधकों की मनोवैज्ञानिक परीक्षण से पता चलता है कि ये युवक मानसिक रूप से भी अधिक स्वस्थ तथा समर्थ हो जाते हैं। उनकी स्मृति तथा मेधा शक्ति बढ़ जाती है।

'योग के स्वरूप के सन्दर्भ में महर्षि पतञ्जलि के अष्टाङ्गयोग का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करना यहाँ पर समीचीन होगा। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार–

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।[4]

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा तथा समाधि ये योग के आठ अंग हैं।

संक्षेप में **यम** के पाँच भेद हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।[5] इसी प्रकार पाँच **नियम**–शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान[6] हैं।

आसन–निश्चल भाव से शरीर को स्थितिविशेष में सुखपूर्वक रखना ही आसन है।[7] आसनों की संख्या असंख्य है।

प्राणायाम–श्वास और प्रश्वास की गति को अलग–अलग करके प्राण को आयामित करना ही प्राणायाम है।[8]

प्रत्याहार–इन्द्रियों को बाह्य विषयों से खींचकर अपने चित्त के स्वरुप के अनुसार बनाना ही प्रत्याहार है।[9]

धारणा–चित्त को किसी विषय पर केन्द्रित करना ही धारणा है।[10]

ध्यान–यह धारणा की अन्तिम अवस्था है। सदृश ज्ञानों का सम्पादन ही ध्यान है अर्थात् चित्त ओर विषय की एकतानता होना ही ध्यान है।[11]

समाधि–ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का एक हो जाना ही समाधि है। यही योग है।[12]

इस प्रकार आठ अंगो के रूप में योग का सम्रग स्वरूप प्राप्त होता है।

आहार विहारादि दिनचर्या सम्वन्धी स्वारथ्यकर उपक्रमों को यम एवं नियम के संयम से प्राप्त किया जाता है।

चिकित्सा की दृष्टि से आसन एवं प्राणायामों पर व्यापक अनुसंधान द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि विभिन्न व्याधियों अथवा मानसिक रूग्णता के निवारण विशेष आसन एवं प्राणायाम विशिष्ट सकारात्मक फल देते हैं।

आसनों की विस्तृत विवेचन हठयोग प्रदीपिका एवं घेरण्ड संहिताकार ने की है। महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में प्राणायाम से पूर्व उसकी आवश्यकता को निर्दिष्ट किया है। यह इस बात का संकेत है कि शारीरिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति को ही प्राणिक यौगिक क्रिया की ओर बढ़ना चाहिए।

चिकित्सकीय दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है क्योंकि वर्तमान प्रणाली में प्रायः यह तथ्य उपेक्षणीय ही रहता है। दूसरे शब्दों में मानसिक चिकित्सा पूर्व शारीरिक दोष दूर करने की प्रक्रिया प्रायः नहीं की जाती है जिससे अचूक चिकित्सा या अपेक्षित निदान सम्भव नहीं हो पाता है। आसनों के अभ्यास से शारीरिक दोषों की व्यापक शुद्धि सम्भव है। अतः योगों द्वारा प्राप्त निष्कर्ष एवं योगसूत्र के मतानुसार भी चिकित्सा में आसनों का समावेश अत्यन्त अपरिहार्य माना जाना चाहिए।

इसी प्रकार प्राणायाम का प्रभाव जीवनी शक्ति 'प्राण' के आयाम का विस्तार करने की प्रक्रिया है। प्राणायाम मन्त्र के साथ प्राणायाम करना मन को सबल बनाने का उत्तम साधन है। न केवल श्वसन संस्थान की व्याधियों में यह प्रभावी होता है, अपितु मानसिक स्वास्थ्य–संवर्द्धन में इसकी अग्रणी भूमिका है। प्राणायाम अष्टांगयोग का एक बर्हिअंग है और योगादि शास्त्रों में इसकी अनेक विधियाँ वर्णित हैं। प्राणायाम के तीन भेद हैं।[13] वस्तुतः ये प्राणायाम के तीन चरण हैं।

1. **पूरक**–एक नासा बन्द कर दूसरी से धीरे–धीरे प्राणवायु के अन्दर खीचते हुए फुफ्फुसों का वायु पूरण करना।
2. **रेचक**–जिस नासा से प्राणवायु अन्दर खींची थी उसे बन्द कर उसके विपरीत नासपुट से धीरे–धीरे साँस का (रेचन करना) निकालना।
3. **कुम्भक**–दोनों नासा पुटों को बन्द कर खीचीं हुई साँस को अन्दर ही रोके रखना। इस क्रिया में उदर, गुहा या कुम्भ के समान हो जाता है।

प्राणायाम के पश्चात् ध्यान (Meditation) भी चिकिता का प्रमुख साधन है। कहा जाने लगा है कि 'Meditaion is Medication' जो उचित ही है। मानसिक रोगों के मूल का परिहार ध्यान द्वारा ही सम्भव है। मनोदैहिक रोगों की अचूक चिकित्सा ध्यान के द्वारा की जा सकती है।

वर्तमान समय में मानसिक तनाव से बचने के लिए जिस यौगिक उपाय का सर्वाधिक प्रचलन है वह है – ध्यान। ध्यानाभ्यास की अनेक विधियाँ विश्व के विभिन्न भागों में प्रचलित हैं। कुछ विश्वव्यापी ध्यान प्रणालीयाँ इस प्रकार हैं।

यथा –

- ऊँकार जप ध्यान विधि।
- महर्षि महेश योगी द्वारा प्रचलित भावातीत ध्यान (Transcendental Meditation) विधि।
- बौद्धों द्वारा प्रचलित विपश्यना ध्यान पद्धति।

इसके अतिरिक्त ध्यान की दो अन्य परम्परागत विधियाँ भी प्रचलित हैं। इनका आधार पतंजलिकृत योगसूत्र है।

सविकल्पक ध्यान एवं निर्विकल्पक ध्यान –

सविकल्पक ध्यान में चित्त (मन) को किसी बाहरी वस्तु पर स्थिर करना होता है यथा देवमूर्ति या देव चित्त में बहुत से रंग, आकृति, दीपक की लौ या घेरा या पुष्प पर चित्त को स्थिर करना।

जब बिना किसी बाह्य साधन के एकाग्रता विकसित की जाती है तो वह निर्विकल्पक ध्यान है। इसे ही कुछ विद्वान **निर्गुण ध्यान** कहते हैं। वैसे इस प्रकार का ध्यान साधारण ध्यान की अपेक्षा कठिन होता है परन्तु यदि सम्भव हो सके तो परिणाम अत्यन्त लाभकारी होते हैं।

यह निर्विकल्पक या निर्गुण ध्यान निरन्तर अभ्यास से विकसित होता है और साधक को समाधि अवस्था में ले जाने में सहायक होता है। समाधि वस्तुतः मनस् की उच्चतम नैसर्गिक स्वास्थ्य है।

मानस–व्याधिग्रस्त व्यक्तियों के लिए दोनों ही ध्यान समान रूप से लाभकारी है। अतः जिसको जिस विधि से सरलतापूर्वक 'ध्यान' में प्रवेश होता हो उसी विधि का अवलम्बन करना चाहिए। यहीं पर विशेषज्ञ, प्रशिक्षक/चिकित्सक की अपरिहार्यता होती है।

यौगिक चिकित्सा हेतु प्रत्येक रोगी में उसकी प्रकृति–विकृति के बलाबल के अनुसार योगाभ्यास की प्रविचरणा पूर्वक अनुदेशिका तैयार करनी चाहिए और उसे अनुभवी चिकित्सक तथा योग प्रशिक्षक की देख–रेख में अभ्यास करना चाहिए। प्रत्येक रोगी की अनुदेशिका में उपयुक्त आहार–विहार के साथ–साथ कुछ उपयोगी आसन जिनमें से कुछ विश्रान्तिकर (Relaxative) तथा कुछ पुनर्स्थापक (Rehabilitative) प्रभाव वाले हों, देना चाहिए। साथ ही श्वास–प्रश्वास नियामक अभ्यास तथा ध्यानाभ्यास भी आवश्यक है। रुग्ण की मानसिकता के व्यापक गुणात्मक बदलाव की दृष्टि से यम–नियमादि का बोध भी कराना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि रोगी पर इन क्रियाओं से शारीरिक या मानसिक दबाव न आये। व्यापक प्रयोगों के पश्चात् प्राप्त परिणामों द्वारा, विभिन्न रोगों में कारगर विशिष्ट यौगिक आसनों, प्राणायामों एवं क्रियाओं को सूचीबद्ध करके इस प्रकार रख सकते हैं।

रोग का नाम	आसन	प्राणायाम	क्रिया
1. मधुमेह	त्रिकोणासन,हस्तपादासन, पश्चिमोत्तानासन,वक्रासन, पवनमुक्तासन,हलासन, मत्स्येन्द्रासन,योगमुद्रा, भुजङ्गासन, शलभासन, सर्वाङ्गासन, मत्स्यासन, नौकासन, चक्रासन, धनुरासन, मयूरासन, शवासन।	उज्जायी, शीतली, चन्द्रभेदी।	कपालभाती
2. तमकश्वास	पश्चिमोत्तानासन, वक्रासन मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, भुजङ्गासन, शलभासन, महामुद्रा, त्रिकोणासन, धनुरासन, सर्वाङ्गासन, हलासन, चक्रासन, शीर्षासन, योगमुद्रा।	उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका।	कपालभाती, नेती,धौती, उड्डियान।
3. चित्तोद्वेग	भुजङ्गासन,पश्चिमोत्तानासन, पवनमुक्तासन,मत्स्यासन, हलासन,विपरीतकरणी, वक्रासन,त्रिकोणासन, सर्वाङ्गासन,शलभासन, मत्स्येन्द्रासन,शवासन,	भस्त्रिका, भ्रामरी।	उड्डियान, अग्निसार,धौती, नौली।
4. उच्च रक्तचाप	भुजङ्गासन,शलभासन, शरीरसंचालन, पवनमुक्तासन, शीर्षासन, शवासन।	भस्त्रिका, उज्जायी।	कपालभाती
5. आमवात	भुजङ्गासन,शलभासन, शरीरसंचालन,वृक्षमुद्रा, आकर्णधनुरासन, धनुरासन, मत्स्यासन,सर्वाङ्गासन, चक्रासन,हलासन, गोमुखासन,शवासन।	–	कपालभाती, धौती।
6. थायरोटाक्सिकोसिस	शरीरसंचालन,त्रिकोणासन, वक्रासन,पश्चिमोत्तानासन, शलभासन,मत्स्येद्रासन, सर्वाङ्गासन,मत्स्यासन, भुजङ्गासन,हलासन, ब्रह्ममुद्रा।	उज्जायी	कपालभाती
7. उदररोग	पश्चिमोत्तानासन,वक्रासन, शलभासन,पादहस्तासन, पवनमुक्तासन,हलासन, त्रिकोणासन,भुजङ्गासन, चक्रासन,मत्स्येन्द्रासन,	शीतली, शीतकारी, चन्द्रभेदी।	उड्डियान, नौली, धौती।

	सर्वाङ्गासन,धनुरासन, मयूरासन,शीर्षासन,पद्मासन, योगमुद्रा।		
8. शिर शूल	शवासन, पवनमुक्तासन, त्रिकोणासन, भुजङ्गासन, शलभासन, मत्स्यासन, पश्चिमोत्तानासन, ब्रह्ममुद्रा।	उज्जायी, शीतली।	जलनेती, सूत्रनेती।
9. तनाव	शशांकासन, पश्चिमोत्तानासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, भुजङ्गासन सर्वाङ्गासन, शवासन	अनुलोम–विलोम, उज्जायी, भ्रामरी, दीर्घश्वाप्रसश्वास, भस्त्रिका ।	कपालभाती, त्राटक।

निष्कषर्तः यह स्पष्ट है कि मानसिक स्वास्थ्य एवं संवर्धन में यौगिक चिकित्सा की भूमिका न केवल महत्त्वपूर्ण है अपितु अतुलनीय भी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

1. चरकसंहिता, शारीरस्थान–4/36
2. चरकसंहिता, सूत्रस्थान–1/42
3. आयुर्वेदीय मानस विज्ञान, पृष्ठ संख्या–234, चौखम्भा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
4. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।–योगसूत्र–2/29
5. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।–योगसूत्र–2/30
6. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि।–योगसूत्र–2/32
7. स्थिरसुखमासनम्। – योगसूत्र 2/46
8. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।–योगसूत्र–2/49
9. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।–योगसूत्र–2/54
10. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।–योगसूत्र–3/1
11. तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्।–योगसूत्र–3/2
12. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।–योगसूत्र–3/3
13. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।–योगसूत्र–2/50

* * * * *

वेदों में कर्मयोग का अवचिन्तन

डॉ० उपेन्द्र कुमार त्रिपाठी
(महर्षि वादरायण व्यास राष्ट्रपति सम्मान से सम्मानित),
वरिष्ठ सहायक आचार्य, वेद–विभाग, का.हि.वि.वि., वाराणसी।

वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा, नैतिक गुणों का संकीर्तन तथा कर्मयोग का प्रतिपादन समग्र रूप से 'सर्वजनहिताय' दृष्टिकोण का प्रवर्तन करता है, जिसमें वैयक्तिक आचार के साथ ही समाजपरक उचित नीतियों, सन्मार्गों का निदर्शन करता हुआ वेद, कर्म के प्रभुत्व का संकीर्तन भी करता है। कर्मयोग का यह निदर्शन वेदों का ही प्रदान किया हुआ है जो गीता का आधार तथा अन्य आधुनिक दर्शन ग्रन्थों की पृष्ठभूमि है। कर्मयोग तथा नैतिक आदर्शों का अवचिन्तन प्रस्तुत करते हुए वेदों में श्रेष्ठतम कर्मों का निर्लिप्त भाव से प्रवर्तन करने का उपदेश है, साथ ही सत्य, ज्ञान, धर्म, सदाचरण, दान, विश्वबन्धुत्व, सत्संगति समत्वभाव, आत्मशुद्धता, निर्मल मन आदि नैतिक तत्त्वों की परिकल्पना भी इनमें प्रस्तुत की गई है। इस अध्याय में यजुर्वेद में व्याप्त इन्हीं कर्मयोग तथा नैतिक आदर्शों का वर्णन किया गया है जिसमें कर्तव्य कर्म करने की प्रेरणा देने के साथ ही सत्य, ज्ञान, निर्भयता, वाणी–माधुर्यादि गुणों का भी सम्यक् उद्घोष है।

कर्म का स्वरूपः–

वैदिक ऋषियों द्वारा आत्मा की शारीरिक, मानसिक व वाचिक क्रियाओं को सर्वप्रथम कर्म माना गया, तत्पश्चात् यज्ञादि बाह्य अनुष्ठानों को भी श्रेष्ठ कर्म कहा जाने लगा क्योंकि प्राचीन वैदिक ऋषियों का समस्त तत्त्वज्ञान देवों को प्रसन्न करने के साधनरूप यज्ञकर्म की सीमा में विकसित हुआ। इस प्रकार याज्ञिक कर्मकाण्डों द्वारा देवों को प्रसन्न करने एवं उनके द्वारा मनोवांछित फल की प्राप्ति होने के इस प्रयत्न में कर्म के मूल स्वरूप को स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। इन उल्लेखों से कर्मसिद्धान्त की दो प्रमुख अवधारणायें स्पष्ट होती हैं–कर्म के भेद के रूप में श्रेष्ठ शुभकर्मों की अवधारणा एवं कर्मफल की अवधारणा। कर्म एवं कर्मफल परस्पर अभिन्न हैं। मनुष्य के विचारों का मूर्तरूप में परिणत् हो जाना ही उसका 'कर्म' कहलाता है। जैसे ब्रह्मा ने सृष्टि–रचना की, वैसे ही मन अपना रथ (मनोरथ) बनाता है, उससे विचार करता है और तदनुसार ही कर्तव्य कर्म करता है। अतः मन में आये सद्विचार सत्कर्त्तव्य की ओर उन्मुख करते हैं और पापविचार अनिष्टकर्म की ओर प्रेरित करते हैं। किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में मनुष्य की क्रियमाणता अर्थात् कर्मभाव निरन्तर बना रहता है। त्रिगुणात्मक सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इन तीनों स्थितियों में क्रियमाणता अथवा कर्म की भाव–धारा विद्यमान रहती है। इस प्रकार कर्म प्रकृति का गुण है जो इस जगत् में रहने वाले प्रत्येक जीव के लिए नितान्त स्वाभाविक है। कर्मों को प्रकृति का गुण बताया गया है किन्तु अहंकार से मूढ़ आत्मा अपने को कर्त्ता मानता है–

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।[1]

कर्मोत्पत्ति के विषय में उल्लेख मिलता है कि प्रलयकाल में जब समस्त कार्यरूप जगत् कारण में लीन था, तब कारणरूप को कार्यरूप में परिणित करने के लिए सर्वप्रथम कर्म की आवश्यकता थी, क्योंकि कर्म के अभाव में किसी भी कार्य को कारण रूप से कार्यरूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। ऐसे ही कर्म की उत्पत्ति के लिए ब्रह्म कर्ता हुए और सर्वप्रथम सृष्टि–उत्पत्ति रूप कर्म किया गया। अथर्ववेद में कर्म की उत्पत्ति का विवाह द्वारा अलंकारिक वर्णन प्राप्त होता है–

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्।।[2]

अर्थात् 'प्रलयरूपी महासमुद्र के भीतर तप और कर्म ही विद्यमान थे। वे ही वरपक्ष के लोग थे। ब्रह्म उनमें ज्येष्ठ वर रूप में हुआ।' ब्रह्म को ही कर्म का उत्पत्तिकर्ता माना गया है–**'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि'**।[3]कर्म का महत्त्व सिद्ध करता हुआ अथर्ववेद का यह मन्त्र द्रष्टव्य है–**'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'**[4]अर्थात् मेरे दाहिने हाथ में कर्म है तो बाये हाथ में जय। यह मन्त्र स्पष्ट ध्वनित करता है कि कर्म का फल अवश्यम्भावी है। मनुष्य जिस प्रकार का कर्म करेगा, उसके अनुसार ही उसको फल प्राप्त होगा। मनुष्य कृत कर्म अपना फल–भोग कराने के लिए निष्क्रिय परमात्मा को भी सक्रिय कर देता है और उनके द्वारा विशाल सृष्टि करा देता है। यद्यपि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है तथापि वेद कहते हैं कि परमेश्वर से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ ही मनुष्य कर्म करे–**'देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः'**[5] और निषिद्ध कर्मों को न करे। अतः मनुष्य को निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए, क्योंकि जो कर्महीन रहता है, वह शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यत्नवान् होने को ही कर्म कहते हैं जिसमें मन व शरीर दोनों सक्रिय होते हों। कठोपनिषद् में भी उक्त है कि केवल आत्मा स्वयं में कर्ता नहीं है, वह शरीरादि के मेल से कर्ता या भोक्ता कहलाता है।[6] कर्म करते समय इन्द्रिय, मन आदि अन्तःकरण तथा चक्षु आदि बाह्यकारण मिलकर कार्य करते है। इसमें से मनःशक्ति प्रेरिका और इन्द्रियाँ कर्मों की संचालिका होती हैं। इन सबके लिए स्थूलशरीर आवश्यक है। अथर्ववेद में इसी की पुष्टि करते हुए कहते हैं किमनुष्य की आत्मा कर्म करने के लिए ही शरीर धारण करती है।[7]

कर्म के भेद :–

कर्म की अपरिहार्यता सर्वमान्य है। कर्म शब्द चारों वेदों में विभिन्न विभक्तियों में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त अकर्म–सुकर्म आदि रूपों में भी इसका प्रयोग किया गया है। कर्म की परम्परा चिरन्तन है और कर्म ही मनुष्य को महान् बनाता है। 'कर्म–रहस्य' में कहा गया है कि प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों में से पुरुष में कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति कभी परिवर्तनरहित नहीं होती। जब यह पुरुष प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब प्रकृति की क्रिया पुरुष का कर्म बन जाती है।[8] यह कर्म तीन प्रकार का माना जाता है–क्रियमाण, सञ्चित एवं प्रारब्ध। वर्तमान में किये गये कर्म, जिनका फल भविष्य में मिलेगा, वे 'सञ्चीयमान' या 'क्रियमाण कर्म' कहलाते हैं। इस विषय में मत है कि जो भी नये कर्म और उनके संस्कार बनते हैं, वे सब मनुष्य जन्म में ही बनते हैं, पशु–पक्षी आदि योनियों में नहीं, क्योंकि वे योनियाँ केवल कर्मफल भोग के लिए ही मिलती हैं–

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रबृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनिमनुष्यलोके।।[9]

वर्तमान से पहले इस जन्म में किये हुए अथवा पहले के अनेक मनुष्यजन्मों में किये हुए जो कर्म संगृहीत हैं, वे 'सञ्चित कर्म' कहलाते हैं। सञ्चित में से जो कर्म फल देने के लिए प्रस्तुतं (उन्मुख) हो गये हैं अर्थात् जन्म, आयु और अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियों के रूप में परिणत होने के लिए सामने आ गये हैं, वे 'प्रारब्ध कर्म' कहलाते हैं। कर्म का एक और विभाग 'सकाम' और 'निष्काम' कर्म के रूप में किया जाता है, जहाँ सांसारिक फल की इच्छा से किया गया कर्म सकाम तथा फल की कामना से रहित होकर स्वधर्म मानकर किया गया कर्म निष्काम कर्म कहा जाता है।

वस्तुत: मनुष्य योनि से भिन्न योनियों में जीवात्मा को इसलिए जाना होता है कि जिससे वह इस शरीर में किए गये निन्दनीय कर्मों से मुक्त होकर पुन: मनुष्य योनि में आकर अधिक उन्नत कर्मों का स्वजीवन में सन्निवेश कर सके। इसलिए मनुष्य को कर्मों के परिणाम के सम्बन्ध में कर्म से पूर्व अथवा पश्चात् सोचना व्यर्थ है। क्योंकि फिर व्यक्ति कर्म करने मे शिथिलता करता है और फलोन्मुख अधिक रहता है। अत: फल को ध्येय न बनाकर कर्म की ही सम्यक् सिद्धि को अभीष्ट मानकर कर्म करना चाहिए। कर्म की अनिवार्यता, कर्मफल की अनिवार्यरूपेण प्राप्ति, निष्काम कर्म की श्रेष्ठता तथा यज्ञादि कर्मों के प्रति आग्रह आदि वैदिक कर्म सिद्धान्त के नियामक तत्त्व हैं। कर्म का उद्देश्य भी सर्वत्र **'सर्वभूतहिते रता:'**[10] बताया गया है। संशययुक्त आत्मा वाला व्यक्ति विनाश को प्राप्त करता है अत: कर्म का विधान आस्था, विश्वास व आत्मानुकूल होना चाहिए। अत: कर्मों की कुशलता ही योग है और यही कर्मयोग कर्म–बन्धन मुक्ति का साक्षात् उपाय है–

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योग: कर्मसु कौशलम्।।[11]

कर्मफल की अवधारणा :–

कर्मफल का आधार वाक्य है–जो जैसा बोता है, वह वैसा ही पाता है। मनुष्य जिस प्रकार का कर्म अतीत में कर चुका है, उसी के अनुरूप फल उसे वर्तमान में मिलेगा और वर्तमान में किये कर्मानुसार ही कर्म–फल उसे भविष्य में प्राप्त होगा। कर्म केवल भौतिक क्रिया ही नहीं अपितु इसके अन्तर्गत मानसिक, आध्यात्मिक और भावात्मक सभी प्रकार की क्रियाएँ आती हैं। इन सभी प्रकार के कर्मों के अच्छे अथवा बुरे प्रभाव मनुष्य को उत्तम, मध्यम अथवा अधम गति की प्राप्ति करवाते हैं। अच्छे कर्मों के लिए पुरस्कार और बुरे कर्मों के लिए दण्ड अवश्य मिलकर रहेगा– **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'** मन द्वारा विचारे गये कुविचार अथवा दूसरे के प्रति दुर्भावना, 'मानसिक पापकर्म' हैं उसी प्रकार कठोर व असत्य भाषण, चुगली, अनावश्यक अपशब्दोच्चारण आदि वाणी से उत्पन्न 'वाचिक पापकर्म' हैं। अन्याय से दूसरों का धन ले लेना, हिंसा, अत्याचार आदि 'शारीरिक पापकर्म' हैं। मन, वाणी व शरीर द्वारा किये गये इन पाप–कर्मों का फल भोग मनुष्य को क्रमश: अपने मन, वाणी व शरीर से ही भोगना पड़ता है। शरीर कृत कर्म–दोषों से मनुष्य वृक्षादि योनि, वाणी के कर्म–दोषों से पक्षी, मृग आदि योनि और मन के कर्म–दोषों से चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है तथा शुभ कर्मों से देवभाव, शुभ–अशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्य भाव एवं अशुभ कर्मों से नीच योनियों को प्राप्त करता है। अथर्ववेद में भी कर्मफलों की यह तीन श्रेणियाँ बतायी गई हैं–

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते।।[12]

अर्थात् शरीर में रहने वाला जीवात्मा, परमेश्वर के नियमानुसार तीन प्रकार के विविध स्थानों में जाता है। एक प्रकार के कर्मों द्वारा 'अद:' अर्थात् वहाँ मोक्ष को जाता है, एक प्रकार के कर्मों द्वारा 'अद:' अर्थात् वहाँ निम्न योनि को प्राप्त होता है और 'इह' अर्थात् यहाँ मनुष्य योनि में एक प्रकार के कर्मों द्वारा सुख–दु:ख का सेवन करता है। मनुष्य के सात्त्विक कर्म उसे मोक्ष गति दिलाने वाले राजसिक और तामसिक कर्म क्रमश: उसे मनुष्ययोनि और निम्न योनियों में डालने वाले होते हैं।[13] अत: मनुष्य को सत्त्वगुण के कर्मों को सर्वाधिक, रजोगुण वाले कर्मों को उससे कम तथा तमोगुण वाले कर्मों को सबसे कम करना चाहिए। जिस कर्म को करके अथवा करते हुए तथा आगे करने का विचार करते हुए (तीनों कालों में) लज्जा का अनुभव होता है, उनको 'तामसिक कर्म' का लक्षण मानना चाहिए। जिस कर्म

से व्यक्ति इस लोक में बहुत प्रसिद्धि चाहता है और असिद्धि में शोक नहीं करता, वह 'राजसिक कर्म' है तथा जिस कर्म को सर्वथा जानने के लिए इच्छा करता है तथा जिस कर्म को करता हुआ (तीनों कालों में) लज्जित नहीं होता और जिस कर्म से व्यक्ति के मन को आनन्द हो, वह 'सात्त्विक कर्म' का लक्षण है। तम का प्रधान गुण 'काम' है, रज का प्रधान गुण 'अर्थ' है और सत्त्व का प्रधान गुण 'धर्म' है। इनमें सत्त्व या धर्म सबसे श्रेष्ठ हैं।[१४] अतः यह नितान्त आवश्यक है कि व्यक्ति अपने द्वारा करणीय कर्मों का सही–सही मूल्यांकन करे और सत्त्व, रज, तम गुणों वाले कर्मों में पार्थक्य को समझते हुए उत्तम कर्म का अनुसरण करे और कर्मयोग का आदर्श स्वीकारते हुए पवित्र होकर शुद्ध चित्त से श्रेष्ठकर्मों का प्रवर्तन करे। इसकी सिद्धि के लिए कर्मयोग के स्वरूप का सम्यक् बोध नितान्त आवश्यक है।

कर्मयोग का स्वरूप :–

मानवीय मूल्यों की अवधारणा के संदर्भ में भी वेद पहले मानव में विद्यमान सुप्त अथवा जागृत गुणों को बतलाता है और बाद ही में उनकी सहायता से मनुष्य को उसके कर्तव्य पथ की ओर अग्रसर करता है। मानव में शरीर, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकार, बुद्धि तथा आत्मा विद्यमान है, हर एक के अपने गुण–धर्म हैं, जिनकी सहायता से मानव विविध कर्म करता है। किन्तु इन सभी पुरुषार्थों या प्रयत्नों को करने की आवश्यकता ही क्या है? तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य में जो दुर्गुण विद्यमान हैं, उन्हें दूर करने के लिए, समाज के दुष्ट पुरुषों को हतवल कर सबका कार्यक्षेत्र विस्तृत करने के लिए तथा समाज में क्रियाशील एवं प्रगतिशील रहने के लिए मनुष्य को सभी प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि कोई भी प्राणी बिना कर्म किए क्षणमात्र भी नहीं रहता है। निःसंदेह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के द्वारा परवश हुए कर्म को करते हैं–

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।[१५]

प्रकृतिजनित सत्त्व, रज, तमसादि गुणों से परवश हुए प्राणी द्वारा जो भी कर्म किए जाते हैं वे कर्म ही प्राणी की उन्नति व उत्कर्ष में साधनभूत हो सकते हैं अतः जो उन्नति चाहता है वह सदैव शुभ कर्म करे तथा सबका सुख बढ़ाने वाले सत्कर्मों से युक्त पुरुषार्थ करे–यही कर्मयोग वेदों द्वारा उक्त है। यजुर्वेद को 'कर्मवेद' कहा जाता है इसलिए इसमें उन सभी शुभ कर्मों का प्रतिपादन तथा समर्थन उपलब्ध होता है, जिनका यथावत् अनुष्ठान करना मानव के उद्धार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः कर्म व नैतिक आदर्शों का प्रतिस्थापन करना ही वेदों का प्रधान ध्येय है और इसी ध्येय की सिद्धि करता हुआ यजुर्वेद भी कर्तव्यों, नैतिक तत्त्वों एवं आदर्शों की वह पृष्ठभूमि तैयार करता है जिसका अनुसरण करता हुआ मनुष्य उन कर्तव्यों में लिप्त रहता हुआ भी निर्लिप्त होता है और कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन में नहीं पड़ता। कर्मयोग का आदर्श व्यक्ति द्वारा शुद्धचित्त होकर पवित्रभाव से श्रेष्ठ कर्म के प्रवर्तन पर बल देता है। कर्मानुष्ठान से पूर्व मनुष्य को अपने चित्त को शुद्ध, निर्मल व शान्त करना परमावश्यक है क्योंकि अन्यथारूपेण किया गया कर्म प्रकृष्ट व प्रशस्ततम कर्म नहीं कहा जा सकता। तद्विपरीत प्रकृष्टतम कर्मों का अनुसरण प्रत्येक मनुष्य को परिष्कृत एवं पवित्र बना सकता है, ऐसा पवित्र मनुष्य ही निर्लिप्त भाव से अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने में सक्षम है। सत्कार–संगति दानात्मक कर्म 'यज्ञ' नाम से प्रसिद्ध हैं और यज्ञ उस कर्म को कहते हैं जिससे पूज्यों का सत्कार हो, संगति अर्थात् संगठन हो और दान अर्थात् परोपकार हो। इस प्रकार के कर्म यज्ञ में होते हैं और ऐसे ही यज्ञों के अनुष्ठान का उपदेश यजुर्वेद करता है–**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**।

वस्तुतः शुभ सङ्कल्प की शक्ति, उत्तम कर्म करने की प्रेरणा, धारणवती मेधाबुद्धि, मनन की शक्ति वाला मन, विशिष्ट व्रत की दीक्षा लेना और उसको निभाना, शीत उष्णादि सहना और उनको सहते हुए, आहत होते हुए भी अपना कर्तव्य कर्म न छोड़ना इत्यादि की सिद्धि करना मनुष्य की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस उन्नति का मार्ग तभी प्रशस्त हो सकता है जब व्यक्ति कर्तव्य पथ से च्युत न होता हुआ एवं कर्मयोग के स्वरूप को जानता हुआ उसका सम्यक् रूपेण पालन करें। मनुष्य अपने जीवनकाल में विभिन्न प्रकार के कर्मों में रत रहता है। अपनी जीविका के लिए, अपने परिवार के भरण–पोषण के लिए, स्वार्थ सिद्धि के लिए अथवा परोपकार के लिए, श्रेष्ठत्व सिद्धि के लिए अथवा प्रभुत्व स्थापित के लिए वह निरन्तर प्रयासरत रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा नित्य किए गये सभी कर्म किसी न किसी कारणवश किए हुए अपने–अपने प्रयोजन को सिद्ध करते हैं, किन्तु इनमें से सभी कर्म 'कर्मयोग' की श्रेणी में नहीं आते। क्योंकि 'कर्मयोग' कर्म की उस साधना का नाम है जो श्रेष्ठ तथा परम प्रयोजन को सिद्ध करने वाली तथा हितकारक है। यही कारण है कि कर्मयोग के स्वरूप की चर्चा के संदर्भ में हम उन कर्मों का विधान कहते हैं जो ज्ञान व बुद्धि से युक्त, उत्तम विचारों से युक्त तथा परोपकार अथवा सर्वजनहिताय बुद्धि से किये जाने वाले उत्तम कर्म हैं और जिनका विधान वैदिक संहिताओं में निरन्तर मिलता है। यजुर्वेद भी ऐसे ही प्रतिष्ठित श्रेष्ठ कर्मों का प्रवर्तन करते हुए कर्मयोग के इसी स्वरूप की प्रतिस्थापना करता है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय, जिसे ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं, के अन्तर्गत ज्ञान व कर्म की अधिकार भावनाओं में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए वर्णन है कि केवल चिन्तन अथवा केवल कर्म का जीवन दोषयुक्त है, किन्तु जो पुरुष दोनों मार्गों में सामञ्जस्य स्थापित करना जानता है, वह अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।[१६] डॉ० रवीन्द्र नाथ मिश्र इस विषय में कहते हैं कि–'**ईशोपनिषद् अन्य उपनिषदों से बहुत आगे बढ़ जाता है, जब वह कर्ममय जीवन का ज्ञानमय जीवन से सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है।**'[१७] यजुर्वेद में कर्मयोग की उच्चतम स्थिति बतलायी गयी है। निरन्तर कर्मयोग के अनुसार निष्कामभाव से शुभकर्म करता हुआ जीव सहज भाव को प्राप्त कर लेता है तदनन्तर शुभकर्म करना उसका स्वभाव हो जाता है। कर्मयोग की साधना की यह प्रथमावस्था है, जिसमें साधक अभ्यास व वैराग्य द्वारा कर्मयोग का मार्ग अपनाता है। साधना की द्वितीयावस्था में साधक कर्म फलेच्छा से रहित होकर उन कर्मों को ईश्वर के लिए अर्पण कर देता है। इस अवस्था के लिए उक्त है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर द्वारा व्याप्त है और जो इस संसार के भोग हैं, उनका लोभ रहित त्यागपूर्वक भोग ही श्रेष्ठ है–

ईशा वास्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।[१८]

साधना की इसी अवस्था का अनुकरण करते हुए योगदर्शन में इसे 'ईश्वर–प्राणिधान' कहा गया है। कर्मयोग साधना की तृतीयावस्था वह है जिसमें साधक स्वयं को अकर्ता मानकर ईश्वरादेश स्वरूप कर्मों का कर्तव्य समझकर निर्लिप्त भाव से आचरण करें। यही 'कर्म' रूपी 'योगसाधना' का चरम उत्कर्ष है।

सन्दर्भ सूची–

१. भ० गी० ३/२७.
२. अथर्व० ११/१०/२.
३. भ० गी० ३/१५.
४. अथर्व० ७/५२/८.
५. अथर्व० ६/२३/३.

६. आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:। (कठो० १/३/४).

७. य: प्रथम: कर्पकृत्याय जज्ञे.. (अथर्व०. ४/२४/६).

८. स्वामी रामसुखदास, कर्म रहस्य, गीता प्रेस, पृ० १.

९. भ० गी० १५/२.

१०. भ० गी० ५/२५.

११. भ० गी० २/५०.

१२. अथर्व० ११/१०/३३.

१३. मनु० १२/४०.

१४. सार्वभौमिक वैदिक धर्म, दयानन्द वैदिक शोध पीठ, पृ० १४१.

१५. भ० गी० ३/५.

१६. शु० यजु० ४०/१४.

१७. डॉ० रवीन्द्र नाथ मिश्र, कर्म की हिन्दू अवधारणा, पृ० ६६.

१८. शु० यजु० ४०/१.

* * * * *

जैन दर्शन में नय का स्वरूप

जोगेन्द्र मित्र
शोधछात्र, जैन–बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

जैन दर्शन पदार्थो के ज्ञान के दो साधन माने हैं प्रमाण और नय प्रमाण तथा नयो से पदार्थो का ज्ञान होता है। जितना भी समीचीन ज्ञान है वह प्रमाण और नय इन दो भागों में बंटा हुआ है। धर्म–धर्मी का भेद किये बिना वस्तु का जो अखण्ड ज्ञान होता है। वह प्रमाण ज्ञान है तथा धर्म–धर्मी का भेद होकर धर्म द्वारा वस्तु का जो ज्ञान होता है वह नय ज्ञान है।[1] प्रमाणनयैरधिगमः।।6।।

वस्तु अनन्त धर्मात्मक होने के कारण बहुत जटिल है। उसको जाना तो जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। उसे कहने के लिए वस्तु विश्लेषण कर एक–एक धर्म द्वारा क्रम–पूर्वक उसका निरूपण करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। वक्ता किसी एक धर्म को मुख्यकर उसका कथन करता है उस समय उसकी दृष्टि में अन्य धर्म गौण होता है, पर निषिद्ध नहीं। कोई एक निष्पक्ष श्रोता उस कथन को क्रमपूर्वक सुनता हुआ अन्त में वस्तु के यथार्थ अखण्ड व्यापक स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। यह वस्तु धर्म ग्रहण करने की प्रक्रिया नय कहलाती है। नय शब्द का अर्थ है। नयति इति नयः अर्थात् जो जीवादि पदार्थो को लाते है या प्राप्त कराते हैं, वे ज्ञानांश नय कहलाते हैं।[2]

अनेक धर्मों को युगपत् ग्रहण करने के कारण प्रमाण अनेकान्त रूप और सकलादेशी है, तथा एक धर्म को ग्रहण करने के कारण नय एकरूप व विकलादेश हैं। प्रमाण को विषयभूत स्व और पदार्थ के अशंका जिसके द्वारा निर्णय किया जाय। वह नय कहलाता है।

लोवाणं ववहारं धम्मविवक्खाइ जो पसादेहि।
सुयणाणस्य वियप्पो सो वि णओ लिंग–संभूदो।।263।।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा

जो वस्तु के एक धर्म की विवक्षा से लोक व्यवहार को साधता है वह नय है। लोक व्यवहार नय के द्वारा ही चलता है, क्योंकि दुनिया के लोग किसी एक धर्म की अपेक्षा से ही कथन करते हैं।[2]

कुछ आचार्यों ने नय को निम्न प्रकार परिभाषित किया है–

''अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः''

जिसने प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं किया है, और जो वस्तु के एक अंश (धर्म) को ग्रहण करता है ऐसे ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं ज्ञाता अनन्त धर्मात्मक वस्तु में से नय के द्वारा

मुख्य रूप से एक धर्म का विचार करता है किन्तु शेष धर्मो का निराकरण नहीं करके उसका भी अस्तित्व स्वीकार करता है यही नय है।[3]

प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्तत्वध्यवसायो नयः।।धवला।।

अर्थात् प्रमाण के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के एक देश में वस्तु का निश्चय करने वाला ज्ञान नय है।

स्वामी समन्तभद्र ने लिखा– "स्याद्वादप्रविभक्तार्थ विशेषव्यंजको नयः"

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतप्रमाण के द्वारा गृहीत अर्थ के विशेषों अर्थात् धर्मों का जो अलग–अलग कथन करता है उसे नय कहते हैं।

वस्तुनकान्तात्मनि अवरोधेन हेत्वपर्णात् साध्य विशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रयोगो नयः" स्वार्थसिद्धि

अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना हेतु के मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं।

आ0अकलकदेव ने लिखा है–(ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयास्ते द्रव्यपर्यायत... नयोज्ञातुर्मते सत)।।सिद्धिविनिश्चय टीका, पृ0 516

राजवार्तिक में– प्रमाणप्रकाशितार्थ विशेषप्ररूपका नयाः 1/33

प्रमाण प्रकाशित अर्थ विशेष प्ररूपक नय है।

नयो ज्ञातुरभिप्रायः कारिका 30।।लघीयस्त्रय।।

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार

नयानां लक्षणं लक्ष्यं तत्सामान्य विशेषतः।
नीयते गग्यते येन श्रुतार्थांशो नयो हि सः।।6।।
तदंशौ द्रव्यपर्यायलक्षणौ साध्यपक्षिणौ।
नीयेते तु यकाम्यां तौ नयाविति विनिश्चयतौ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक। 1/33

जिसके द्वारा श्रृत प्रमाण के द्वारा जाने गये अर्थ के अंशों–धर्मों को जाना जाता है उसे नय कहते हैं। वे अंश है–द्रव्य और पर्याय जो नय वस्तु के द्रव्यौश को जानता है उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं और जो नय वस्तु के पर्यायांश को जानता है उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं। प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है। तत्त्वार्थभाष्य में–जीवादीन पदार्थान नयन्ति प्राप्नुवन्ति कारयन्ति साधयन्ति निवर्तयन्ति निर्भासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यजंयन्तीति नयः।।

स्याद्वाद मंजरी में

"नीयते एक देश विशिष्टोऽर्थः प्रतीति विषयभगिरिति नीतयो नयाः।।

जिस नीति के द्वारा एकदेश विशिष्ट पदार्थ लाया जाता है उसे नय कहते हैं।

प्रमाणनयतत्वालोक में

नीयते येन श्रृताख्यप्रमाणविषयीकृतस्थार्थस्यां शस्तदितरांशैदासीन्यतः स प्रतिपन्तुरभिप्राय विशेषो नयः।।

श्रुतज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थ का एक धर्म अन्य धर्मो को गौण करके जिस अभिप्राय से जाना जाता है, वक्ता का यह अभिप्राय नय कहलाता है।

द्रव्यस्वभाव प्रकाशकनयचक्र में

जं णाणीण वियप्पं सुवासयं वत्थु अंससंग्रहणं।
तं इह णयं पउन्तं णाणी पुण तेण णाणेण।। गाथा 173।।

श्रुतज्ञान के आश्रय को लिये हुए ज्ञानी का जो विकल्प वस्तु के अंश को ग्रहण करता है उसे नय कहते हैं। उस ज्ञान से जो युक्त होता है। वह ज्ञानी है।[4]

नय के भेद

नैगमसंग्रहव्यवहार्जूसूत्रशब्दसमभिरूढ़ैवम्भूता नयाः।।33।।

नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द समभिरूढ़ और एवम्भूत ये सात नय तत्वार्थसूत्रकार ने बताये हैं षट्खण्डागम में नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच भेदों का उल्लेख मिलता है तथा कषातपाहुड में भी ये पाँच भेद प्राप्त है।[5]

सो संगहेण एक्को दु–विहो वि य दव्व पज्जएहिंतो।
तेसिं च विसेसादो णइगम–पहुदी हवे णाणं ।।268।।

द्रव्य और पर्याय का भेद न करके सामान्य से नय एक है द्रव्य तथा पर्याय से दो है इन दोनों में प्रारम्भ के तीन द्रव्याथिकनय तथा बाद के चार पर्यायार्थिक नय कहे गये हैं।[6]

(1) नैगमनय– संस्कार मात्र से पदार्थ को जानने वाला नय नैगमनय है नैगमनय के तीन भेद हैं–भूत, भावी, वर्तमान। भूतकाल का वर्तमान में आरोपण करना भूतनैगमनय है जैसे– दीपावली के दिन कहना कि आज भगवान् महवीर का निर्वाण दिवस है। भविष्य का वर्तमान से आरोपण करना भावीनैगमनय है जैसे–अर्हन्त भगवान् को सिद्ध कहना और प्रारम्भ किये गये कार्यों को सम्पन्न हुआ कहना वर्तमान नैगमनय है।

इस प्रकार नैगम नय अतीत और भविष्य दोनों को वर्तमान में आरोपित कर लोकव्यवहार का संचालन करता है। यह सात नयों में सबसे अधिक स्थूल और व्यवहारिक नय हैं नैगम नय वस्तु के काल्पनिक और वास्तविक सब धर्मो को स्वीकार कर विचार करता है। सत् और असत् का इसे कोई परहेज नहीं है।[7]

'अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः"। सर्वार्थसिद्धि, पृ 100

तत्रानिष्पन्नार्थसंकल्पमात्र ग्राही नैगमः।। प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन, पृ.236

(2) संग्रहनय– अपनी जाति का विरोध न करके समस्त विशेषों को एक रूप से ग्रहण करने वाला संग्रहनय है। समस्त चेतन और अचेतन वस्तुएँ एक है क्योंकि सभी सत्वरूप है यह सग्रंहनय है, चूंकि वस्तु भेदाभेदात्मक या सामान्य–विशेषत्मक है अथवा द्रव्य पर्यायात्मक है। इस तरह सन्ता रूप तत्व को अभेद रूप से ग्रहण करने वाली दृष्टि को सग्रंहनय कहते हैं।[8]

शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।

भेदानां नासदात्मैकोऽप्यस्ति भेदो विरोधतः।।32।। लघीययस्त्रय

(3) व्यवहारनय– सग्रंहनय के द्वारा गृहीत अर्थों में विधिपूर्वक भेद करके ग्रहण करने वाला नय व्यवहार नय है। अतो विधिपूनर्वकम वहरणं व्यवहारः। राजवार्तिक।। 1.33.611

जैसे पर सग्रंह नय में व्यक्त (सत्) व्यवहार नय में द्रव्य पर्याय कहा जायेगा। अपरसग्रंहनय में सभी द्रव्यों को द्रव्य रूप से और सभी पर्यायों को पर्याय रूप में ग्रहण किया जायेगा। इसी प्रकार व्यवहार नय जीवादि के भेद से जीव को छः प्रकार का बतलायेगा और पर्याय की दृष्टि से दो प्रकार का सहभावी और क्रमभावी। व्यवहारनय तब तक भेद करता जाता है जब तक भेद सम्भव हो।[9]

(4) ऋजुसूत्रनय– यह नय भूत और भावी पर्यायों को छोड़कर वर्तमान पर्याय को ही ग्रहण करता है, यह ज्ञातव्य है कि एक पर्याय एक समय तक ही रहती है, उस एक समवर्ती पर्याय को अर्थपर्याय कहते हैं। यह अर्थपर्याय सूक्ष्म त्रृपुसूत्र नय का विषय है। ऋतुसूत्रनय नित्य द्रव्य को गौणकर क्षणववर्ती पर्याय को प्रधानता से विषय करता है।[10] व्यवहार नय में एक स्थूलपर्याय दीर्घकाल तक बनी रहती है। यथा मनुष्य पर्याय आयु के अन्त तक रहती है स्थूल पर्याय को ग्रहण करने वाला ज्ञान और वचन स्थूल ऋजुसूत्र नय कहा जाता है।

(5) शब्दनय– जो नय सब वस्तुओं संख्या, लिंग आदि भेदों की अपेक्षा से भेद रूप ग्रहण करता है, वह शब्दनय है, तात्पर्य यह है कि एक वस्तु के वाचक अनेक शब्द होते हैं। उनमें कोई शब्द स्त्रीलिंग कोई पुल्लिंग तो कोई नपुंसकलिंग होता है। शब्दनय लिंग आदि के भेद से अर्थ में भी भेद स्वीकारतास है।[11]

(6) समभिरूढ़नय

नानार्थशमभिरोहणात्समभिरूढ़ः।

नाना अर्थों का समभिरोहण करने वाला होने से समभिरूढ़ नय कहलाता है। चूंकि नाना अर्थों का सम अर्थात् छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ़ नय है।

उदाहरणार्थ

'गो' इस शब्द के वचन आदि अनेक अर्थ पाये जाते हैं तो भी वह 'पशु' इस अर्थ में रूढ़ है। अथवा अर्थ का ज्ञान कराने के लिए शब्दों का प्रयोग किया जाता है ऐसी हालत में एक अर्थ का एक शब्द से ज्ञान हो जाता है। इसलिए पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करना निष्फल है यदि शब्दों में भेद है तो अर्थभेद अवश्य होना चाहिए इस प्रकार नाना अर्थों का समभिरोहण कराने वाला होने से समभिरूढ़ नय कहलाता है।[12]

(7) एवंभूतनय

यह नय शब्द के वाच्यार्थ को प्रकट करता है अर्थात् जिस समय जो पर्याय या क्रिया हो उस समय तद्वाची शब्द के प्रयोग को एवम्भूतनय कहते हैं। जैसे दीपक क्रिया होने पर ही दीपक कहा जाय अन्यथा नहीं गौ जिस समय चलती है उसी समय गौ है अन्य समय में नहीं पूजा करते समय ही किसी को पुजारी कहना उचित है अन्य समय में नहीं। अतः यह क्रियावाचक है।

ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अन्य विषय वाले है नैगमनय से व्यवहार नय सूक्ष्म है तथा उसका विषय भी अल्प है इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए अर्थात् एवंभूतनय सबसे सूक्ष्म है और उसका विषय भी अल्पतम है प्रथम के चार नय अर्थप्रधान होने से अर्थनय है और शेष तीन शब्दप्रधान होने से शब्दनय कहलाते हैं।

नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन नय द्रव्य को विषय करने के कारण द्रव्यार्थिकनय कहलाते हैं तथा शेष चार नय पर्याय को विषय करने के कारण पर्यायार्थिकनय कहलाते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तत्त्वार्थसूत्र–उमास्वामी 1/6
2. कार्तिकेयानुप्रेक्षा–स्वामीकुमार।।गाथा 263।।
3. प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन–उदयचन्द्र जैन, पृ0 74
4. जैन–धर्म मीमांसा–अशोक कुमार जैन, पृ0 324–25
5. तत्त्वार्थसूत्र–उमास्वामी, पृ0 39
6. कार्तिकेयानुप्रेक्षा–स्वामी कुमार, पृ0 192
7. जैन तत्त्वविद्या–मुनि प्रमाणसागर, पृ0 262
8. लघीयस्त्रय–आ0 अकलकंदेव, प56
9. जैन संस्कृति कोश भाग–दो–भागचन्द्र जैन, पृ0 201
10. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 2, आचार्य नेमिचन्द्र, पृ0 470
11. जैन धर्म–साध्वी सुभाषा, पृ0 90
12. स्वार्थसिद्धि–पूज्यपाद, पृ0 103
13. प्रयेकमलमार्तण्ड परिशीलन–उदय चन्द्र जैन, पृ0 238

* * *

ज्योतिष शास्त्र द्वारा नेत्र रोग विचार

प्रशान्त कुमार झा
शोध छात्र (ज्योतिष विभाग)
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

ज्योतिष शास्त्र में नेत्र रोग मुख्यतया तीन प्रकार के होते हैं। 1. जन्मजात 2. आगन्तुक, 3. सामान्य। जन्म से ही अन्धा, काना या भेगा होना जन्मजात नेत्र रोग का परिणाम हैं। आगन्तुक नेत्र रोग मनुष्य या अन्य जीवों के द्वारा चोट पहुँचाने से अथवा चेचकादि अन्य रोगों के परिणाम स्वरूप होता हैं। तथा सामान्य नेत्र रोग वे कहलाते हैं जो आयु के साथ–साथ वृद्धावस्था में होते हैं।

नेत्र रोग का विचार करते समय आज एक अन्य स्मरणीय बात यह है कि वर्तमान युग में शल्य क्रिया द्वारा अन्धता को दूर किया जा सकता है तथा मृत व्यक्ति की आँखो को अन्धे व्यक्ति की आँखो में आरोपित कर उसे दृष्टि शक्ति सम्पन्न भी बनाया जा सकता है। आज चश्मा धारण कर मन्द दृष्टि वाला व्यक्ति भी आसानी से अपने सभी काम–काज कर लेता हैं। प्राचीन काल में यह संभव नही था। अतः ज्योतिष शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में अन्धता के योगो के अपवाद की कोई खास चर्चा नहीं की गई। आज अन्धता को दूर करने की उक्त विधियाँ विद्यमान हैं। वास्तविकता यह है कि शल्यचिकित्सा या उपचार द्वारा जो नेत्र ज्योति पुनः प्राप्त की जाती है, उसकी ओर इंगित करने वाले ग्रहयोग भी कुण्डली में होते ही हैं, आवश्यकता केवल उन पर ध्यान देने की हैं

ज्योतिषशास्त्र में नेत्र विषयक विचार सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, शनि और द्वितीय एवं द्वादश भाव आदि से होता हैं। द्वादश भाव वाम नेत्र का और द्वितीय भाव दाहिने नेत्र का कारक होता हैं। इस प्रकार सूर्य दाहिने नेत्र और चन्द्रमा बायें नेत्र का कारक होता हैं।

आचार्य का मत है कि सूर्य और चन्द्रमा के लिए वृष राशि के छठे अंश से दशम अंश पर्यन्त अद्यांश गत कहलाता हैं। इसी प्रकार मिथुन राशि के 9 से 15 अंश तक कर्क और सिंह राशि के 9 से 15 तक कर्क और सिंह राशि के 18 वां 27 वां एवं 28 वें अद्यांश होता हैं। वृष राशि के पहला 10 वां, 27 वां और 28 वां अंश, मकर के 26 से 29 अंश तक कुंभ के 8, 10, 18 एवं 19 वां अंश अद्यांश होता हैं।

यह भी लिखा हैं कि यदि क्षीण चन्द्रमा वृष राशि के 21, 22 और 29 वां अंश अंद्यांश होता हैं। कर्क राशि का 19–20 अंश सिंह का 10 से 16 अंश तक कन्या का 19 से 21 अंश तक धनु का 20 वां अंश से 23 वे अंश तक और मकर राशि का 1, 2, 4 एवं 5 वां अंश अद्यांश कहलाता है।

अर्थात् जब सूर्य अथवा चन्द्रमा या दोनो जन्म के समय अद्यांश में रहता हैं, तो जातक को नेत्र रोग होता हैं। दशम स्थान के भोग्यांश से लेकर चतुर्थ भाव के मुक्तांश तक वामाङ या वाम चक्रार्ध कहते हैं। तथा इसी प्रकार चतुर्थ भाव के भोग्यांश से लेकर दशम भाव के मुक्तांश तक

दाहिने चक्रार्ध कहते हैं। अतः इन्ही दो विभागों में अद्यांश का सूर्य अथवा चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार बायें या दाहिने नेत्र के रोग का अनुमान होता हैं यथा नेत्र रोगों का विशिष्ट योग--

"निधनारिधनव्ययस्थिता रविचन्द्राश्यमा यथा तथा वलवद्ग्रहदोश कारणैर्मनुजानां जनन्त्य नेत्रताम्।।"[1]

अर्थात जिस जातक के जन्म काल में सूर्य--चन्द्रमा, मंगल और शनि जिस किसी तरह जन्म लग्न से अष्टम, षष्ठ, द्वितीय और द्वादश भाव में स्थिति हो, अर्थात उक्त चारों स्थानों में से किसी एक स्थान में सूर्य दूसरे चन्द्रमा, तीसरे मंगल एवं चतुर्थ स्थान में शनि बैठा हो तो इन चारों में जा बली हो उसका जो धातु उसके कोप से जातक नेत्र हीन होता हैं। **"सोपाण्ल व मण्डले खादुद यस्थे नयनाप वर्जितः"**[2]

अर्थात् जिसके जन्मकाल में सूर्य राहुग्रस्त होकर लग्न में बैठा हो और शनि मंगल लग्न से नवम और पंचम स्थान में स्थित हो तो जातक अन्धा होता हैं।

"शुक्रेन्दुनयनाधीशैरेकस्थैस्तु निशान्धकः ।
सूर्य शुक्र विलग्ने भौर दृश्यर्मध्यलोचनः।।[3]

अर्थात् शुक्र चन्द्रमा और धनेश तीनों एकत्र हो तो रतौंधी होता हैं। सूर्य शुक्र और लग्नेश अस्त हो तो मध्यम दृष्ट वाला होता हैं।

"विलग्न वित्रास्ततपः सुतेशा रिपुव्ययच्छिन्द्र ग्रहोपयाता।
विलग्न सम्बन्धकरः सितश्रेद्वि लोचनाभाव भुपैति जातः।।[4]

अर्थात् लग्नेश, द्वितीयेश, सप्तमेश, नवमेश और पंचमेश षष्ठ, द्वादश या अष्टम भाव में प्राप्त हो और शुक्र लग्न से सम्बन्ध करता हो तो जातक नेत्र से हीन होता हैं।

"सितः सुतारीशयुतो विलग्ने नरेश कोपान्नयन प्रमादः"

अर्थात् शुक्र पंचमेश और षष्ठेश के साथ लग्न में हो तो राजा या किसी अधिकारी के द्वारा नेत्र रोग उत्पन्न होता हैं।

शन्यारयोगे गुलिकेन मुक्ते नेत्रेश्वरे तत्र तुऩेत्ररोगः।
नेत्र यदापाप बहुत्वयोगे यमेन दृश्टे सति रूग्ननेत्रः।।[5]

यदि द्वितीयेश शनि मंगल तथा गुलिक से युक्त हो तो जातक को नेत्र रोग होता है। तथा द्वितीय स्थान में बहुत पापग्रहों का योग हो उनको शनि देखता हो तो जातक नेत्र रोगी होता हैं।

"षष्ठेशे वक्रर्क्षगेऽक्षि रोगी"[6]

अर्थात् षष्ठेश यदि किसी वक्री ग्रह की राशि में स्थित हो तो जातक नेत्र रोग से पीड़ित रहता हैं।

"ज्ञारर्क्षे लग्नपेज्ञार दृष्टेऽक्षि रोगी"।[6]

लग्नेश यदि बुध की राशि (3–6) या मंगल की राशि (1–8) में स्थित हो तो नेत्र रोगी होते हैं।

“रन्धङेशौ षष्ठे सव्य नेत्र रोगः।।”[8]

अष्टमेश व लग्नेश षष्ठस्थन में हो तो बाये आँख में विकार होता है।

“षष्ठेष्ट में शुक्रे दक्षिणनेत्ररोगः ।।”[9]

अर्थात् शुक्र षष्ठ या अष्टम स्थान में हो तो जातक को दायें नेत्र में रोग होता हैं।

“मन्दारगुलिक युते नेत्रेशे नेत्र रोगः।[10]

अर्थात शनि मंगल व गुलिक से मुक्त यदि द्वितीयेश व द्वादशेश हो तो नेत्र में रोग होता हैं।

“धनेशे शुभेक्षिते लग्नेशे पापयुते सरोग नेत्रः।।”[11]

यदि द्वितीयेश पर शुभ ग्रहों की दृष्टि हो तो लग्नेश पाप दृष्ट हो तो नेत्र से युक्त होता है।

“नेत्रे पापायमदृष्ट नेत्रं रोगहतं भवेत्।।”[12]

“नेत्रेशांशे पापर्क्षे रोगहत नेत्र :”[13]

अर्थात् द्वितीयेश व द्वादशेश की नवमांश राशि का स्वामी किसी पाप ग्रह की राशि में हो तो रोग से आँख नष्ट होता हैं।

“लग्ने भौमे शयने नयने गदः।”[14]

लग्न मे मंगल शयनावस्था में हो तो नेत्र रोगी होता हैं।

“लग्नाष्टमे शुक्रे–––निस्ते जो नेत्र”[15]

अर्थात् लग्न से अष्टम में शुक्र क्रूर ग्रह से दृष्ट हो तो आँसू बहने या आँख से पानी बहने से नेत्रपीड़ा होती हैं।

द्वितीयेश और शुक्र यदि एकत्र हो तो नेत्र में रोग होता हैं। यदि शुक्र से त्रिक (6,8,12) स्थानों में द्वितीयेश व द्वादशेश हो तथा त्रिकोण स्थनों में पापग्रहों से दृष्ट सूर्य स्थित हो तो नेत्र रोग होता हैं।

“लग्नेश शार्क शुक्रे त्रिके जन्मान्धः –––––––चन्द्राकौसिंहेङ भान्यारदृश्टे नेत्र नाश”[16]

1. अर्थात् लग्नेश यदि सूर्य व शुक्र के साथ त्रिक स्थानों में हो तो मनुष्य जन्मान्ध होता हैं।
2. सूर्य यदि राहु से ग्रस्त होकर लग्न में हो तथा शनि व मंगल त्रिकोण में हो तो भी जन्मान्ध होता हैं।
3. यदि चन्द्रमा व मंगल त्रिक स्थान में हो तो ऊँचे स्थान से गिरने से आँखे नष्ट हो जाती हैं।
4. बृहस्पति व चन्द्रमा त्रिक में हो तो गर्मी से आँखे नष्ट होती है।
5. चन्द्रमा व शुक्र त्रिक में हो तो कामातुरता से अन्धापन होता हैं

6. लग्नेश व नेत्रेश सूर्य व शुक्र से मुक्त होकर त्रिक में हो तो जातक जन्मान्ध होता हैं।
7. यदि बुध व चन्द्रमा त्रिक में हो तो शास्त्र में अति विश्वास के कारण अथवा अधिक स्वाध्याय के कारण व्यक्ति अन्धा हो जाता हैं।
8. सूर्य चन्द्रमा तृतीय स्थान में या केन्द्र (1,4,7,10) में हो तो जातक नेत्र से कमजोर होता है।
9. यदि मंगल पापग्रह की राशि में केन्द्रगत हो शनि की राशि में सूर्य सप्तम स्थान में हो तथा शुभ ग्रह त्रिक स्थानों में क्रूर दृष्ट से युक्त हो तो जातक अन्धा होता हैं।
10. कुम्भ लग्न का मंगल हो चतुर्थ भाव में या पंचमस्थ दो पाप ग्रह हो शुक्र लग्नेश के साथ द्वितीयेश एवं द्वादशेष त्रिक (6,8,12) स्थानों में हो तो जातक नेत्र से कमजोर होता है।
11. चन्द्रमा, शुक्र व पापग्रहों से युत द्वितीयेश के गृह में हो, सूर्य व चन्द्रमा व्यय स्थान में शुभ दृष्टि रहित हो, सिंह राशि गत शनि या शुक्र लग्नस्थ हों तो जातक नेत्र से रहित होता हैं।
12. यदि शनि चन्द्रमा व सूर्य क्रमशः द्वादश द्वितीय व अष्टम में हो या षष्ठ, अष्टम द्वादश व द्वितीय स्थानों में चन्द्रमा, सूर्य मंगल एवं शनि हो तो इनमें से बलवान ग्रह दोष के कारण आँखे चली जाती है। अर्थात बलीग्रह के वात पित कफादि दोषों से जातक नेत्रहीन हो जाता हैं।
13. यदि चन्द्रमा व शुक्र त्रिक में हो या शुक्र चन्द्रमा व लग्नेशा लग्न में हो, लग्नस्थ ग्रह स्वोच्च या शुभ युत नहीं हो तो जातक निशान्ध या रतौन्धी से रोग पीड़ित होता हैं।
14. यदि लग्नेश व द्वितीयेश त्रिक में हों, सूर्य व चन्द्रमा लग्न में सिंह राशि गत हो तथा शनि व मंगल से दृष्टि हो तो आँखे चली जाती हैं।

> **''भौमेऽन्त्ये वामनेत्रे धातः ———शुक्रक्षिपौ षष्ठगौ**
> **शुभैर्नदृष्टो नेत्रप्रमादः।।''[17]**

अर्थात् मंगल द्वादश स्थान में हो तो बाये नेत्र में शनि द्वितीय स्थान में हो तो दाये नेत्र में चोट लगने से नेत्रघात होता है।

लग्नगत द्वितीयेश षष्ठेश एवं शुक्र से युक्त हो या शुक्र द्वितीयेश वे द्वादशेश नीच नवमांश में पापयुत हो। शुक्र व नेत्रेश षष्ठ स्थान में शुभ ग्रहों की दृष्टि से रहित हों तो किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा नेत्र फोड़ दिया जाता है या निकाल लिया जाता है।

ज्योतिष शास्त्र के ग्रन्थो में अन्धत्व, आँख कूटना, काणत्व, रतौधी, भेंगापन, एवं अल्प नेत्र रोग जैसे– मधुमेह द्वारा मोतिया विन्द द्वारा गर्मी के कारण शिर नेत्रादि में चोट लगने से नेत्रादि दोष उत्पन्न हो सकता हैं। अतः इनमें ग्रहजन्य दोष शान्त्यर्थ रत्नधारण, पूजन,जप एवं अरिष्ट ग्रह शान्ति द्वारा तथा चिकित्सीय परामर्श शल्य क्रिया द्वारा नेत्र में पूर्ण ज्योति आना संभव हो सकता है। श्री कृष्णयजुर्वेदीय चाक्षुषी विद्या स्तोत्र शतावृत्ति नित्य पाठ से कठिन से कठिन उत्पन्न नेत्र रोग ठीक होकर पूर्ण ज्योति प्राप्त कर लेता हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1. बृहज्जावक अरिष्टा अ0 23–90
2. वृ0जा0अ0अ0 23–12
3. जा0पा0अ0 11 श्लो0 65
4. जा0पा0अ0सं0–11 श्लो0 सं0 66
5. जा0पा0 ।। श्लो सं0 68
6. जातकतत्वम्, 1–220
7. जातकतत्वम् 1–221
8. जा0त0 1–222
9. जा0त0 223
10. जा0त0 1–224
11. जा0त0 1–225
12. जा0त0 1–226
13. जा0त0 1–227
14. जा0त0 1–228
15. जा0त0 1–228–232
16. जा0त0 1–233–257
17. जा0त0 1–258–263

*****

कर्म मीमांसा : मानस के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. सुषमा शुक्ला
लखनऊ

''कर्म प्रधान विश्व रचि राखा''। जो जस करइ सो तस फल चाखा।

तुलसी जी ने विश्व को कर्म प्रधान रहा है। जो जैसा करता है वैसा फल भोगता है। गोस्वामी जी कहते हैं–

''यद्यपि सम नहिं राग न रोषू। नृपहिं न पुण्य पाप गुण दोषू।
तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भक्त अभक्त ह्रदय अनुसारा।।

कर्म सिद्धान्त की व्यवहारिक स्थिति का संकार्य करना असंगत ही है।

भले ही किसी व्यक्ति को अपने कर्म के अनुसार मरना हो तथापि मारने वाला यह कहकर मुक्त नहीं हो सकता कि वह अपने कर्मानुसार मरा है। इसमें हमारा दोष नहीं किसी को फाँसी देने के लिए अधिकृत व्यक्ति ही उसे फाँसी दे सकता है। अनाधिकृत व्यक्ति वैसा ही करेगा तो स्वयं ही वह दण्ड का भागी बन जायेगा। हर मनुष्य के सामने अपना कर्तव्य है तभी कर्म है भले ही व्यवहार के मुकाबले में प्रहार करने वाले के प्रहार को विफल करने एवं अपने रन्ध्रों के गोपन पर रन्ध्रान्वेषण करके प्रहर्ता को दण्ड देने का प्रयास किया जाता है और वैसा करना नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र से सम्मत हैं। वैसा न करना ही दोष है। जैसा कि भगवान् ने कहा कि अर्जुन यदि तुम धर्म–युक्त संग्राम से मुँह मोड़ोगे तो स्वधर्म एवं कीर्ति को छोड़कर पाप के भागी बनोगे।

''अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिंच हित्वा पापमवाप्स्यसि।।

भारतीय धर्म दर्शन में कर्तव्य की व्यापक मीमांसा हुई है, क्योंकि कर्म प्राणिमात्र का स्वभाव है। प्रत्येक जीव निरन्तर कार्यरत है। श्रीगीता का यही सन्देश है–'कुरु कर्मेव'। प्रश्न कर्म के करने या न करने का नहीं है–प्रश्न है किस प्रकार के कर्म किए जाए जिससे हम बन्धनों से मुक्त हों। यही कर्मवाद का आधार है। श्रीगीता में इसे ही नियत कर्म, निष्काम कर्म कहकर 'स्थित प्रज्ञ' होने का सन्देश दिया है। महर्षि वाल्मीकि ने राम वन गमन के समय दशरथ कौशल्या से कहते हैं–

यदाचरित कल्याण शुभं वायदि वाशुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः।।[1]

शुभ–अशुभ कर्मों के कारण ही यह विश्व 'कर्मों की रंगस्थली' है। सार तत्त्व यह है कि मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा मन ही कर्म–साधक है। महाभारत में निर्दिष्ट है–

शुभेन कर्मणा सौढयं, दुःखं पापेन कर्मणा।
कतं फलानि सर्वत्र, नाकृतं भुज्यते क्वचित्।।[2]

सूरदास कहते हैं–करम गति हारे नाहिं टरी।

गुरुनानक ने कहा है–'करि करि करणा लिखि लै जाहुँ–मनुष्य अपने कर्मों को स्वयं लिखता है और उसका लेखा–जोखा अपने साथ ले जाता है। मसीही धर्म में कम्र की मान्यता है। लूक में लिखा है–अच्छे पेड़ में बुरा फल नहीं लगता है, न बुरे पेड़ में अच्छा।[3]

अतः यह विचार गलत है जो तुमने सोचा था कि यदि प्रतिकार न करने वाले और शस्त्र न उठाने वाले मुझ पर शस्त्रपाणि दुर्योधनादि धार्तराष्ट्र कर हनन करेंगे तो यह मेरे लिए अच्छा है–

यदि माम प्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणय।
धार्तराष्ट्रारणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरमं भवेत्।।[4]

तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में कहा है–

"भल अनभल निज–निज करतूती।।[4]

गोस्वामी जी ने कहा है भले और बुरे अपने–अपने कर्म के अनुसार सुन्दर यश और अपयश की सम्पत्ति पाते हैं।

"काल सुभाउ करम बरिआई। भलेहु प्रकृति बस चुकइ भलाई।।[5]

काल स्वभाव और कर्म की प्रबलता से भले लोग ही (सज्जन पुरुष) मोह–माया के वशीभूत होकर कभी–कभी भलाई करने से चूक जाते हैं। प्रारब्ध, दैव और प्राक्तन कर्मसिद्धान्त को समझने वाला व्यक्ति किसी भी इष्टानिष्ट घटनाओं के घट जाने पर उन्हें प्रारब्धजनित जानकर शोक मोह से दूर होकर रागद्वेष से आश्रित होकर अपने कर्तव्य का पालन करने लगता है। सामान्यतया दैव अदृष्ट प्रारब्ध कर्म अचिन्त्य होता है। फल के पहले उसका ज्ञान नहीं होता है। वह फल बल से ही कल्प्य होता है परन्तु तब वह रहता ही नहीं, फिर उससे युद्ध कैसा? यह ही बात श्री राम ने लक्ष्मण को समझाते हुए तब कही थी जब उन्होंने कहा था कि आज मेरे वाणों से विदीर्ण हो रण क्षेत्र में पड़े हुए दैव लोग को ही देखेंगे। "यदचिन्त्यं तु तद्दैवम" अत्यधिक तीव्र पुरुषार्थ करने पर भी अगर सफलता नहीं मिलती, तब फल बल कल्प्य प्रबल दैव को जानबूझकर सन्तोष किया जा सकता है। यही अभिप्राय निम्नोक्त कथन में है–

"काहू न कोउ सुख दुख कर दाता।
नित कृत करम भोग सुन भ्राता।।[5]
सुखस्य दुःखस्य न काऽपिं दाता।
परो ददातीति कुबुद्धि रेषा।।[7]

अधिक सूक्ष्म रूप से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि संसार में वास्तव में कोई शत्रु या मित्र नहीं। अपने आप ही प्राणी अपना मित्र है और वही अपना शत्रु है। "आत्मैव ह्यात्मनों बान्धुरात्मैव रिपुत्मनः" ।[8] प्राण का शुभ कर्म ही उसका मित्र बनकर उसे सुख देता है उसका अशुभ कम ही उसका शत्रु बनकर उसे दुख देता है। अतः व्यवहारिक रूप से धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के अनुसार देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार उचित कर्तव्यपालन करते हुए भी प्राणी राग–द्वेष से मुक्त होकर स्वस्थ शोकमोहित हो सकता है।

यह कहना भी गलत है कि 'कर्म सिद्धान्त' अकाट्य प्रमाणित नहीं है। यह सिद्धान्त जितना शक्तिशाली है, मूल का प्रश्न आते ही इसकी निर्बलता उतनी ही प्रकट होती है। यदि कर्म के अभाव

में सृष्टि सम्भव न हो तो विश्वोद्भव के प्रथम अवसर पर कर्म का निर्माण कैसे हुआ? यदि पूर्व में कर्म नहीं था तो सृष्टि कैसे बनी? और यदि सृष्टि न होगी तो कर्म कैसे होगा? अतः कर्म और सृष्टि आदि का विचार करते हुए असंगति लगने लगती है। अनादि कहकर मूल पर विचार करने की परिस्थिति में बचने की प्रवृत्ति यहाँ स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि यह सब शास्त्रीय व्यवस्थाओं में बचने की प्रवृत्ति यहाँ स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि यह सब शास्त्रीय व्यवस्थाओं को न जानने का परिणाम है। सब ज्ञान मानस से पूर्ण नहीं होगा। शास्त्रों की भी अपेक्षा है। विवाह, जनेऊ आदि संस्कार भी केवल मानस चौपाइयों से ही कराने की कोशिश करना मानस भक्ति का दुरुपयोग है। ब्रह्मसूत्र में विचार है—श्रुति कहती है कि परमेश्वर जिसे उत्कृष्ट ब्रह्म, इन्द आदि ले जाना चाहता है, उनसे साधु कर्म कराता है। ईश्वर जिसे निकृष्ट लोकों में ले जाना चाहता है, उसे निकृष्ट कर्मो में लगा देता है—"एष ह्येब साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यों लोकेश्य उन्तिनीषते एष उ एवासाधु कर्म यमधो निरीषते" (कौ0उ0 318) परन्तु ऐसी स्थिति में ईश्वर के वैषम्य और नैर्धृणय दोष उपस्थिति होते हैं। वह क्यों किसी से साधु कर्म करता है और क्योंकि किसी से असाधु कर्म करता है? क्यों किसी को उत्कृष्ट लोक में ले जाता है एवं क्यों किसी को निकृष्ट लोक में ले जाता है? वह तो सर्वत्र समान है। उसका कोई प्रिय नहीं है फिर भी ऐसी विषम सृष्टि रचना से किसी को उन्नत और किसी को दीन—हीन हरिद्र दुःखी बनाने से तो उसमें विषमता, निर्दयता आदि दोष उपस्थित होते ही हैं। इन सब बातों का समाधान करते हुए कहा गया है कि "वैषम्य नैधृन्ये न सापेक्ष त्वात्त याहि दर्शयति (ब्र0सू0 21/1/34) ईश्वर में वैषम्य और नैधृण्य दोष नहीं होंगे क्योंकि वह कर्म सापेक्ष होकर कर्मों के अनुसार ही विषम सृष्टि की रचना करता है। प्राणियों के कर्मों की विषमता से ही सृष्टि में विषमता होती है। वृष्टि होने पर धरित्री से विविध विलक्षण पौधे उत्पन्न होते हैं। बीजों की विलक्षणता से ही पौधे में विलक्षणता होती है। शासन भी कर्मों के अनुसार ही निग्रधनुग्रह करता है। वैसे ही परमेश्वर भी कर्मों के अनुसार ही प्राणियों को विविध देह तथा सुख, दुःख एवं तदनुगुण सामग्रियाँ प्रदान करता हैं ऐसी स्थिति में विश्व के उद्भव के प्रथम अवसर का सवाल ही नहीं आता। कर्म और सृष्टि की परम्परा को अनादि कहना मूल विचार से बचने की प्रवृत्ति नहीं है। जन्म—मरण एवं सृष्टि प्रलय भी एक प्रकार का जागना और सोना हैं किसी कारण विस्मृति होना ही मृत्यु है और सर्वरूप से विषयों की स्वीकृति ही जन्म है—

"जन्तोर्वे कास्यचिद्धेतोमृत्युरप्नन्तविस्मृतिः।
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वे भावेन भूरिद।।
विषय स्वीकृति प्राहुर्यथा स्वप्न मनोरथौ।।

अतः जब सोने और जागने की धारा अनादि है, उसी अनादि जीव के सम्बन्ध में अनादि जन्म—मरण की धारा चलती है। कैसे कर्मों के अनुसार जन्म—मरण की धारा चलती है। वैसे कर्मों के अनुसार सृष्टि के प्रचल की धारा चलती है। गोस्वामी जी ने अपने मानस रूपी सरोवर में कर्म की प्रधानता को स्वीकार किया है। जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसको उसी के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है। स्वामी करपात्री जी ने कर्म के सिद्धान्त के रूप में कर्म की व्याख्या की है। गोस्वामी जी उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि और गरूड़ के प्रसंग में कहते हैं—

नाना जन्म कर्म पुनि नाना। किए जोग जप तप मखदाना।।[8]

अनेक जन्मों में मैने अनेक प्रकार के योग जप, तप, यज्ञ और दान आदि कर्म किये। इससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने कर्म को प्रधानता दी है। तुलसी के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उन्होंने अपने जीवन में कर्म को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने कर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये कर्म के चार द्वार माने हैं, जिनके आधार पर मनुष्य अपने कर्म को करता है। तुलसी जी ने अपने मानस में ''कर्म प्रधानशिव रचिराखा'' की स्थापना हर जगह की है। श्री राम ने अपने कर्म को सर्वस्त्र मानकर वनगमन को प्रमुखता दी और पिता की आज्ञा का पालन किया तो भरत ने श्रीराम की चरणपादुका राजसिंहासन पर रखकर चौदह वर्षों तक अपने धर्म और कर्म का पालन किया है। आगे के प्रसंग में यह तथ्य और कर्म का पालन किया है। आगे के प्रसंग में यह तथ्य और सत्यप्रतीत होता है कि मानस में तुलसीदास ने कर्म की प्रधानता को महत्त्व दिया है। जब श्रीराम ने केवट से नाव मांगी तो वह बोला कि प्रभु

छुअतसिला भई नारि सुहाई। पाहन ते न काठ कठिनाई।।
तरपिउ मुनि धरिनी होइ जाई। बाटि परइ मोरि नाव उड़ाई।।
एहि प्रतिपालउँ सबु परिवारू। महि जानऊ अउर कबारू।।[9]

इस चौपाई से यह प्रतीत होता है कि केवल अपने कर्म के साधन नाँव को स्त्री बनते हुए नहीं देखना चाहता है। इसलिए यह भगवान श्रीराम के चरणों को धोने की विनती करता है और कहता है कि हे प्रभु! मेरे परिवार की आजीविका का साधन यह नाव है। यह मेरे कर्म का साधन है, इसलिए ऐसे ही मैं आपको गंगा नदी पार नहीं कराऊँगा। यह तो एक सामान्य जीवन के कर्म की बात है। मनुष्य का जीवन मरण भी उसके कर्म पर निर्भर है। एक उक्ति के अनुसार दशरथ ने पूर्व समय में अनजाने में हुई थी। जिसके वियोग में श्रवण के अन्धे माता–पिता ने दशरथ को पुत्र वियोग का श्राप दिया था जिसके फलस्वरूप श्रीराम को चौदह वर्ष का वनवास और दशरथ पुत्र वियोग में मृत्यु को प्राप्त हुए। तुलसीदास जी ने ऐसी अनेक कथाओं को मानस में लिया हैं जो पूर्वजन्म के कर्मो पर आधारित हैं जैसे–भुशुण्डि, शबरी, अजामिल, कबन्ध, मनुशतरूपा, निषाद, इन सबको अपने–अपने पूर्व जन्म में कर्म के अनुसार ही इस जन्म की घटनाओं में अवतार मिला।

नाथ दैव कर सवन भरोसा। सोषिउ सिन्धु करिअ मन रोसा।।
कादर मन कहु एक आधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।।[10]

बिना पुरुषार्थ किए हुए या कर्म पुरुषार्थ फिर प्राप्त किये हुए प्राप्त होने वाले फल में दीनता और देव की कृपा का भार रहता है, जो स्वाभिमानी व्यक्ति को गरिमामय नहीं लगता। तुलसी ने कर्म करने की स्वाधीनता एवं कर्म की प्रतिष्ठा के साथ कर्मानुसार अनिवार्यतः फल भोग की स्थिति का भी प्रतिपादन किया है। मानस के उत्तरकाण्ड में हनुमान के सम्मुख लौकिक दृष्टि से अनिवार्य कर्म फलभोग एवं अलौकिक एवं पारलौकिक दृष्टि से परमार्थिक गुण दोष निरपेक्ष का प्रतिपादन करते हैं।

''कारहि मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रथ परलोक नसाना।।
काल रूप तिन्ह कह मैं भ्राता। शुभ अरू अशुभ कर्म फलदाता।
असाविचारि जे परम सयाने। भजहि मोहि सृंजजि दुख जाने।।
त्यागहि कर्म सुभासुभ दायक। भजहि मोहि सुर नर मुनि नायक।।
संत असंतन के गुन भाखे। ते न परहि भव जिन्ह लखि राखे।।[11]

शुभाशुभ कर्मों के गुण–दोषों से बचा भी जा सकता है। यदि उन्हें राममय कर दिया जाय। भक्तिभावना की इस शब्दावली का व्यावहारिक अर्थ तो यह हो सकता है कि यदि अनाशक्तभाव से मात्र कर्तव्य की प्रेरणा से जो भी अच्छे या बुरे कर्म किये जाय तो उनका परिणाम सुखी या दुखी नहीं करता अर्थात् सफलता मिलने पर गर्व नहीं होता असफलता मिलने या मनचाहा फल न मिलने पर निराशा नहीं होती, क्योंकि कर्म तो शुद्ध कर्तव्य भाव से किये गये हैं। विनय पत्रिका के प्रस्तुत अंश में भी वही अभिव्यक्ति है कि विवेक से ही कर्म–कीचड़ से मुक्त हुआ जा सकता है। अर्थात् विवेकपूर्ण अनासक्त दृष्टिकोण अपनाने से ही कर्मफल के सुख–दुख से निलप्त हुआ जा सकता है–

जनम अनेक किये नाना विधि करम कीच चित सान्यो।
होइ न विमल विवेक नीर बिनु वेद पुरान बखान्यो।।[12]

शुद्ध–बुद्ध आत्माओं के लिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया यह 'गुणदोष' का चिन्तन उपयोगी परन्तु सामान्य जन के लिए तो राम विधाता या नियामक 'सुभ अरू असुभ कर्म फल दाता' ही है। अर्थात् प्राणी अपने कर्म के अनुसार फल प्राप्त करता है। उक्त कर्मानुसार फल भोग की धारणा को ही पुष्टि करते हैं। मानस के अयोध्याकाण्ड में दशरथ राम को महान निगमनीति कर्मानुसार फलभोग की नीति बता रहे हैं–

सुभ अरू असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल ह्रदय विचारी।।
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सब कोई।।[13]

जीव के कर्मों पर ईश विचार कर फल प्रदान करता है। यही तथ्य भरत के प्रति वशिष्ठ के द्वारा कहे गये शब्दों से व्यक्त होता है–

जनम हेतु सब कह पितु भ्राता। करम सुभा–सुभ देई विधाता।।[14]

शुभाशुभ कर्म अर्थात् शुभाशुभ भाग्य जो विधाता निर्धारित करते हैं। अवश्य ही इस भाग्य का निर्माण का कोई आधार तो होगा ही पूर्व जन्म के कर्मों के अतिरिक्त इसका आधार और क्या हो सकता है? मानस के उत्तरकाण्ड में हनुमान जी ने इसी तथ्य को प्रकट किया है।

काल रूप तिन्ह कह मैं भ्राता। सुभ अय अशुभ कर्म फल दाता।।[15]

देवराज इन्द्र से बृहस्पति यह भी कहते हैं–

कर्म प्रधानन विश्व रचि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।[16]

भक्त को अनुकूल फ़ल और भक्तिविमुख को प्रतिकूल फल मिलता देखकर भी पक्षपात का भ्रम हो जाता है। जिस तरह बालि को हो गया–

धरम हेतु अवतरेहुँ गोवाई। मारेहु मोहि व्याध की नाई।
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।।[17]

इसके समाधानस्वरूप श्रीराम ने यह कह दिया–

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठु ये कन्या सम चारी।
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकई जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई।।[18]

इस प्रकार व्यक्ति अपने उत्तम आचरण के द्वारा उत्तम फल को प्राप्त करता है और अपने दुराचार के कारण भक्तिविमुख विषय फल पाता है। जो बोया है वही काटने को बाध्य है। ऐसी धारणा निम्नलिखित प्रसंगों में विभिन्न पात्रों एवं घटनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति हुई है।

काल करमबस मनो मनोरथ कबहूँ कबहूँ कुछ भो तो।।
ज्यों मुदमय बसि नीर बारि तजि उछरि भभरि ले गोतो।।[19]

निम्नलिखित अंश में भी कर्मफल की अनिवार्यता प्रतिपादित है

तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जौ रूचै करो सो।।
पायेहि पै जानिबो करम फल भार–भरि वेद परोसो।।[20]

पुरुषार्थ के अभाव में उचित फल की प्राप्ति नहीं होती। दोहावली के इस दोहे में कल्पवृक्ष के नीचे भी दरिद्र और गंगातीर पर भी मलिन रहने के कारण अकर्मण्यता ही मानी गयी है–

देशकाल करता करम, बचन विचार बिहीन।
ते सुरतरू तर दरिद्री, सुरसरि तीर मलीन।।[21]

इस प्रकार गोस्वामी ने यह प्रतिपादित किया है कि लौकिक दृष्टिकोण से मनुष्य अपने शुभ और अशुभ कर्मो को भोगता है। इससे मुक्ति नहीं है। हाँ, कर्तव्य भाव के किए या भक्ति की शब्दावली में समर्पण करके किये गये या दार्शनिक शब्दावली में अनाशक्त भाव से किये गये कर्म सुखी या दुखी नहीं करते। इस जगह में व्यक्ति के काल, गुण और स्वभाव के साथ–साथ कर्म का निरूपण कोई अलौकिक दिव्य शक्ति करती है जिसके समक्ष व्यक्ति स्वयं को पराधीन मानता है। वर्तमान कर्म–पुरुषार्थ इतना फलदायक सिद्ध हो सकता है कि उसके सामने पिछले कर्म, जिनके फलस्वरूप विधिलेख बना है, नगण्य हो जाय इसी तथ्य को नारद हिमवंत से कहते हैं–

जो तप करे कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहि त्रिपुरारी।।[22]

तप अर्थात् कर्म–पुरुषार्थ के द्वारा भावी विधि, पुर्वजन्मों के कर्म को मिटाया जा सकता है। अतः कर्मों ने जो भाग्य लिखा है उसके लिए किसी को दोषी समझना मतिभ्रम है क्योंकि विधाता तो कर्मानुसार निर्णय कर देता है।

अथर्ववेद कहता है–

कृतं में दक्षिणे हस्ते जयो में सब्य आहितः।
मेरे दाहिने कर में पुरुषार्थ है बाएं में सफलता।[24]

तुलसी का पुरुषार्थ भाग्य दृष्टि को निष्कर्ष रूप में समेटना चाहे तो यह अर्द्धाली प्रस्तुत की जा सकती है–

सुख अरू असुभ करम अनुसारी। ईशु देइ फल ह्रदय विचारी।।[23]

सन्दर्भ

1. मानस 2, 217, 2, 3
2. गीता, 2/33

3. गीता, 1/46
4. मानस, 1, 4, 5
5. मानस 1, 6, 1
6. वाल्मीकि, रामायण, 1, 22, 20
7. गीता
8. मानस, 7, 96 क 4
9. मानस, 2, 100, 3
10. मानस 5, 51, 2
11. मानस, 7, 41, 2–4
12. विनय पत्रिका, 88
13. मानस, 2, 77, 4
14. मानस, 2, 255, 2
15. मानस 7, 41, 2
16. मानस
17. मानस, 4, 4, 3
18. मानस 4, 9, 4
19. विनय पत्रिका, 161
20. विनय पत्रिका 173
21. दोहावली, 414
22. मानस, 70, 3
23. मानस, 2, 77, 4
24. मानस 24/7/52, 8

*****

षड्दर्शनेषु पातञ्जलदर्शने मोक्षविचारः

अखिलेशकुमारमिश्रः
शोध छात्र, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

भारतीयदर्शनेषु योगदर्शनं विशिष्टम्महत्त्वपूर्णञ्च स्थानं भजते। भारतीयदर्शनस्य परमप्रयोजनं प्राणिनां दुःखत्रयाद् ऐकान्तिकात्यन्तिक निवृत्तिरेव वर्तते। दुःखानामियं शाश्वतिक-निवृत्तिः, मुक्तिः, मोक्षः, कैवल्यम्, अपवर्गः निःश्रेयः निर्वाणं परमपदञ्चेत्यादिपदैरभिहिता। अस्य सिद्धये प्रायशः सर्वाणि भारतीयदर्शनानि पदार्थानां शुद्धं येन केन प्रकारेण अपरिहार्यमुपायं मन्यन्ते।

पदार्थानाम् एतत् शुद्धज्ञानं विविधेषु दर्शनेषु तत्त्वज्ञानं, सम्यग्ज्ञानं, सत्त्वसाक्षात्कारः परमज्ञानं, विज्ञानं, परमप्रसंख्यानं, विवेकख्यातिश्चेत्यादि नामभ्यः वर्णितमस्ति।

अस्य शुद्धज्ञानस्य प्रथमरूपन्तु तदस्ति यद् बुद्धेः शुद्धसात्त्विकवृत्त्या प्राप्नोति द्वितीयञ्चोत्तमं वा रूपं तदस्ति यद्वृत्तिहीनस्थितौ आत्मनोऽपरोक्षानुभवो भवति।

अनयोः प्रथमभेदस्य तत्त्वज्ञानं ‘सांख्ययोगे’ विवेकख्यातेः नाम्ना प्रसिद्धमस्ति। अपरञ्च तत्त्वदर्शनं ‘योगशास्त्रे’ असम्प्रज्ञातयोगस्य नाम्ना विख्यातं वर्तते। कपिलस्य सांख्यशास्त्रमस्यापरोक्षपुरुषानुभूतेः विषये नितान्तमौनमास्ते। न्यायवैशेषिकमीमांसादर्शनान्यपि वृत्तिज्ञानात् परे कस्यचित् परोक्षोत्तमज्ञानस्य कल्पनां नैव कृतवन्तः। अद्वैतवेदान्त-दर्शनमस्यापरोक्षानुभूतिरूपज्ञानमेव मोक्षस्य यथार्थकारणं स्वीकरोति।

‘‘विद्यातारमरे केन विजानीयादिति’’[1]

तथा

‘‘यन्मनसा न मनुते।’’[2]

इत्यादि-श्रुतयः एतत् कथनं प्रमाणयन्ति। विवेकख्याति-असम्प्रज्ञातविधिभ्यां शुद्धज्ञान- प्राप्तिप्रक्रिया, गुरुतरा जटिला दुरूहा च भवति। अस्याः द्विविधप्रक्रियायाः रचनात्मकं स्वरूपमेव योगसाधना वर्तते। वृत्तिलभ्य-शुद्धज्ञानस्य पर्यवसानः विवेकख्यातिरस्ति। अनने ज्ञानेनापि मोक्षस्य सिद्धिर्जायते। अस्य विशदविवेचनं पातञ्जयोगदर्शने कैवल्यनामतः निरूपितमस्ति।

योगस्य ध्येयोऽस्ति आत्मनः प्रकृतेः संयोगात् विमुक्तिः। योगानुष्ठानेन आत्मनः प्रकृतेः पार्थक्यं भवति तथा च आत्मा केवलं स्वरूपेऽवस्थितो भवति। एतदेव मोक्षः कैवल्यं वा कथ्यते।

कैवल्यावस्थायां जीवात्मा परमात्मानं साक्षात्करोति यतो हि परमात्मा अन्तर्यामी, सर्वाधिष्ठाता च सन् आत्मनि नित्यस्थितोऽस्ति। आत्मनः इयं स्थितिः प्रकृतेः वियोगः परमात्मनः संयोगश्च कथ्यते। अयमेव मोक्षः मुक्तिः परमधाम निर्वाणञ्च।

आत्मनः प्रकृत्या संयोगः चित्तस्य माध्यमेन भवति। चित्तनियन्त्रणेन अन्तर्निहितानां शक्तीनां कोशः मुक्तो भवति। विभूमिपादे ये संयमसिद्धयादयः वर्णिताः सन्ति, तासां सिद्धीनां सेयोजनात् मनुष्यस्य कायाकल्पो भवतीति महदाश्चर्यम्।

भूतजयेन्द्रियजयाभ्यां मन्ये प्रकृतिः स्वशक्तीनां कोशं साधकस्य हस्ते प्रददाति। सिद्धीनां रसास्वादनकालेऽस्मिता कल्पितचित्तानां निर्माणं करोति। अस्मिता वासनाभ्यः प्रेरिता सती एतच्चित्तन्निर्माति। यथार्थे स्वाभाविकचित्तमेव एषां नियन्त्रणं करोति। समाधौ चित्तं वासनारहितो जायते। मनुष्य शुभमशुभं वा मिश्रितं कर्म करोति। केवलं योगिनां कर्म शुभाशुभाभ्यां परे भवति। साधारणानां मनुष्याणां एतानि कर्माणि वासनाभिः प्रेरितानि भवन्ति। कर्मणामनुसारं विविधयोनिषु जन्म भवति तथा तादृश्य एव वासनाः भवन्ति। प्रत्येकं कर्म स्वसंस्कारं चित्ते त्यजति। तथा स्मृतिरूपेण ते एव सस्काराः वासनाः जनयन्ति। वासनाः अनादिरूपेण वर्तन्ते यतो हि जिजीविषा प्रत्येकं जीवेषु नित्यास्ति। एवं प्रकारेण कर्मसंस्कारवासनाजन्ममृत्यु-इत्यादिनां क्रमः निरन्तरं प्रचलायमानो भवति।

योगतः इदं जन्ममरणचक्रं अवरोद्धं शक्यते। वासनानां हेतुरविद्या वर्तते। अस्याः फलं जातिः आयुः योगश्च वर्तते। एतेषामाश्रयश्चित्तं तथा आलम्बनमिन्द्रियविषयोऽस्ति। एतेषामभावात् वासनानामभावो भवति। तदा जन्ममृत्योः चक्रस्य विरामो जायते।

प्रकृतौ कस्यचिद् वस्तुनः नितान्तमभावो नास्ति। प्रकृतेः महत्तत्त्वादिपदार्थाः अतीते अनागते वा स्वरूपे विद्यमानाः भवन्ति। ते गुणात्मकरूपे व्यक्ताः वा सूक्ष्माः भवन्ति। गुणानां परिणामस्य ऐक्यरूपे भवनं वस्तुनः सत्तां दर्शयति। यथा 'ऑक्सीजन' 'हाइड्रोजन' चेति अनयोः मिश्रणं जलरूपमुपैति।

दृश्यजगतः जडपदार्थोऽपि प्रकृतेः रूपं तथा चित्तमपि प्रकृतेः परिणामोऽस्ति। ते पृथक्-पृथक् कथं दृश्यन्ते? अस्मिन् विषये सूत्रकारस्य मतमस्ति-

'वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्था।'[3]

अर्थात्

प्रकृतिपदार्थः चित्तञ्च एकस्मात् वस्तुनः जायमानेऽपि चित्तं आत्मनः सान्निध्येन भवितव्यचेतनाशक्त्या, उभौ मार्गौ पृथक्-पृथक् कुरुते।

कस्यचिदपि पदार्थस्य ज्ञानं चित्तस्य तस्मिन् निमग्ने सत्येव भवति अन्यथा नैव। यः आत्मा चित्तस्येशोऽस्ति, सः चित्ते उदीयमानानां सकलवृत्तीनां ज्ञाता भवति। वस्तुतः चित्तं स्वप्रकाशमानं नास्ति, अपितु आत्मनः प्रकाशं प्राप्य चेतनयुक्तं प्रतिभाति।

''न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्''[4]

अर्थात्

जडत्वाद् तस्य चेतना स्वीया चेतना नास्ति।

यथा न ह्यग्निरात्मस्वरूपमप्रकाशं प्रकाशयति। स्वयमात्मां चेतने तथा अपरिणामत्वे सत्यपि चित्तस्य सान्निध्येन चित्तस्याकारं प्राप्य चित्ते उदीयमानाः वृत्तीः अनुभवति तथा अज्ञानवशात् वृत्तिमेव आत्मा स्वस्वरूपम् अवगच्छति। चित्तं द्रष्टुः (पुरुषस्य) दृश्यस्य (प्रकृतेः) च भासितत्त्वात् सर्वार्थद्रष्टृ दर्शकं च भवति। यद्यपि चित्तमनेकवासनाभिः चित्रितं भवति तथापि प्रकृतिपदार्थयोः संघातत्त्वात् परेषां कार्यं करोति तथा सोऽन्यसत्तापुरुषं वर्तते। विवेकीजनः चित्तस्य इदं स्वरूपं ज्ञात्त्वा आत्मभावस्य भावनां त्यजति-

''विशेषदर्शिन आत्म भावभावनाविनिवृत्तिः''[5]

अर्थात्

योगानुष्ठानात् येन आत्मनश्चित्तस्य च भेदं सुविदितं स आत्मभावात् निवृत्तो भवति। कोऽहम्? कुतः आगतोऽस्मि? कुत्र गमिष्यामि? इत्यादिप्रश्नाः इदानीन्तनं तं नाङ्गीकुर्वन्ति। इदानीं साधकः विश्वस्तोऽस्ति यत् स आत्मतत्त्वोऽस्ति तथा इदानीं तस्यैव दर्शनं करणीयमस्ति।

एवं प्रकारेण साधकस्य चित्तं सम्प्रति कैवल्यं प्रति सम्मुखो भवति। विवेकख्यातिं सम्प्राप्य चित्तं कैवल्यं प्रति तु नमति एव परन्तु उत्थानस्य संस्काराः बीजरूपे विद्यमानाः एव वर्तन्ते। तानेव संस्कारान् साधकः क्रियायोगेन दग्धुं शक्नोति। यदा साधकः विवेकख्यातौ अपि वैराग्यं प्राप्नोति तदा सः धर्ममेघसमाधिं प्राप्नोति। अयमस्ति निर्बीज समाधेः पूर्वसन्ध्या। धर्ममेघसमाधौ संस्काराः भस्मसात् भवन्ति तथा साधकः प्रकृतेः मेघाच्छादितप्रकाशं स्पष्टमवलोकयति।

''ततः क्लेश कर्म निवृत्तिः।''[6]

यदा अविद्यादिक्लेशात् कर्मबन्धनाच्च योगी निवृत्तो भवति तदा सकलावरणेभ्यो मलेभ्यश्च निवृत्तं चित्तमनन्तज्ञानं प्राप्नोति। इदानीं चित्तस्य शुद्धिः पूर्णरूपेण जायते तथा सम्प्रति तस्य कार्यमपि समाप्तं भवति।

''ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।''[7]

अर्थात्

धर्ममेघसमाधेरुदये सति कृतार्थस्य गुणानां परिणामस्य क्रमस्य समाप्तिर्जायते। प्रकृतेः गुणाः विविधपरिणामान् प्राप्त पुरुषस्य भोगापवर्गाभ्यां कार्यं कुर्वन्तः निवसन्ति। इदानीं तस्य कार्ये परिपूर्णे सति तस्य परिवर्तनक्रमोऽपि समाप्तो भवति। अर्थात् सम्प्रति अस्य योगिनः सन्दर्भे ते स्वकीयं कार्यं समापयन्ति तथा योगी आवागमनस्य चक्रात् मुक्तो भंवति।

''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरस्ति।''[8]

अर्थात्

पुरुषार्थात् शून्ये जाते गुणानां स्वकारणे विलयः कैवल्यमस्ति अथवा चितिशक्तेः स्वस्वरूपेऽवस्थानं कैवल्यमस्ति।

योगदर्शनस्य विषयः प्रकृतिपुरुषयोः वियोगः तथा पुरुषपरमपुरुषयोः संयोगः वर्तते। प्रकृतेः विमुक्त आत्मा यदा स्वस्वरूपे प्रतिष्ठितः भवति तदा अन्तर्यामी परमात्मनं स्वस्मिन् साक्षात्करोति तथा परमानन्दस्य अनुभवं करोति सोऽयमानन्दः यस्य वर्णनं शब्देषु न कर्त्तुं शक्यते। तैत्तिरीयोपनिषदि कथितमस्ति-

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचन॥[9]

अर्थात्

यतः वाङ्मनसी अप्राप्य एव तम् प्रत्यागच्छतः। तद् आनन्दरूपं ब्रह्म जानन् पुरुषः सर्वतः अभयः भवति।

उपसंहारः

भगवता पतञ्जलिना 'योगदर्शनस्य' चतुर्षु पादेषु कैवल्यस्य प्रपादिनं कृतम्। परन्तु कुत्रापि पुनरुक्तिदोषः नैव दृश्यते।

1. समाधिपादे

''तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।''[10]

इत्यत्र कैवल्यं तथा तस्य प्राप्तेः साधनभूतं योगस्य सम्बन्धः वर्णितः तथा कैवल्यस्य स्वरूपमपि प्रतिपादितमस्ति।

2. साधनपादे

''तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।''[11]

इत्यत्र सम्प्रज्ञातयोगलभ्य-विवेकख्यातिद्वारा अविद्यायाः निवृत्तौ अनादि-अविद्याकृतपुरुष-प्रकृतिसंयोगस्याभावो भवति। एष एव दुःखानाम् ऐकान्तिकात्यन्तिकनाशोऽस्ति।

3. विभूतिपादे

''सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्''[12]

सूत्रेऽस्मिन् कैवल्यायोपयुक्तस्थितेः निरूपणमस्ति। बुद्धिसत्त्वस्य समानरूपेण शुद्धौ कैवल्यं सिद्धं भवति। तस्मिन् समये पुरुषः स्वस्वरूपमात्रज्योतिः, निर्गुणः भवति।

4. कैवल्यपादे

''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठ वा चिति शक्तिरिति।''[13]

इत्यत्र कैवल्यस्य सम्पूर्णवर्णनं कृतम्। अस्यानुसारं कैवल्यस्य स्थितिः दृष्टिद्वयभेदेन वर्णितुं शक्यते गुणदृष्ट्या पुरुषदृष्ट्या च। पुरुषस्य प्रयोजनरहितचरिताधिकाराणां सत्त्वादिगुणानामव्यक्तप्रकृतौ प्रतिप्रसवः अर्थात् लयः गुणानां दृष्ट्या कैवल्यस्य वर्णनमस्ति। पुरुषस्य दृष्ट्या कैवल्यस्य वर्णनं तदस्ति यत् स्वस्मिन्नैव रूपे पुरुषस्य सदैव प्रतिष्ठ, अर्थात् बुद्धिसत्त्वेन अभिसम्बन्धे सति सम्भावनाया अपि निवृतिभवनं, पुरुषस्य सदैकाकीभावः केवलं निरुपाधिरूपतः अधिवास एव कैवल्यमस्ति ।।इतिदिग्।।

संदर्भ

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/14
2. केनोपनिषद् 1/5
3. पातंजलयोगदर्शनम् 4/15
4. तदैव, 4/19
5. तदैव, 4/25
6. तदैव, 4/30
7. तदैव, 4/32
8. तदैव, 4/34
9. तैत्तिरीयोपनिषद्, 2/4/1
10. पातञ्जलयोगदर्शनम्, 1/3
11. तदैव, 2/25
12. तदैव, 3/55
13. तदैव, 4/34

*****

उदयान्तरस्वरूपविमर्शः

दिग्विजय पाण्डेय
शोधछात्र
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

''युक्तायनांशस्य तु मध्यमस्य भुक्तासवोऽर्कस्य निरक्षदेशे।
मेषादिभुक्तोदय संयुता ये यश्चापनांशान्वितमध्यभानोः॥''[1]
स्वर्णं ग्रहे चेदसवोऽधिकोना इदं ग्रहाणामुदयान्तराख्याम्॥

अर्थात् मध्यमरविसायनं कृत्वा तस्य निरक्षदेशीय भुक्तांशासु साधनं क्रियते। भुक्तांशासु अस्मिन् मेषादारभ्य गतार्कराशितुल्यनिरक्षोदयासुमानं युक्ता उदयासवः भवति। सायनरवेः कलानयनमपिकार्यम्। अनयोनन्तरं ग्रहगतिद्वारा गुणनं कृत्वा अहोरात्रासुमानेन विभाजिते फलं भवति। इदं फलं असुमानमूनाधिके हीनं युक्तञ्च कुर्यात्। अर्थात् यदा रविः विषमपदे भवति तदा ऋणमन्यथा धनं कुर्यात्।

$$\pm \frac{(\text{रविनिरखोदयासु} - \text{रविउदयकला}) \times \text{गग्रहस्यदैनिकगतिः}}{21659}$$

उदयान्तरसंस्कारः अर्कस्य नाडीक्रांत्ययोः स्थित्यन्तरकारणेन उत्पन्नं भवति। अहर्गणोत्पन्नग्रहमध्यमसावनमानेन साध्यते। येन कारणेनान्तरुलस्योत्पत्तिः भवति। रवेः मध्यमगतिकलातुल्यासु नाक्षत्रकाले युक्त्वा षष्टिघटिकाः भवति। 60/59/08 इदं मध्यं सूर्यसावनमस्ति। नाक्षत्रदिन 21600 असु तुल्यं भवति। अनयोरन्तरं 59 असु तुल्यं भवति। अर्कस्य मध्यमसावनदिनगतिः 5918 कलादि तुल्यं भवति, यं षष्टिटिकायां भवति। इत्यन्तरेण प्रतिमासे राशिउदयसमये भिन्नता भवति। इत्यन्तरम् अहर्गणोत्पन्न मध्यमग्रहे न प्राप्नोति, येन कारणेन सूर्योदयकालिकग्रहाः न प्राप्नुवन्ति। अर्थात् ते ग्रहाः सूर्योदयात् किञ्चित् पूर्व-परकालिक भवन्ति। लङ्कादेशे मध्यमार्कः क्षितिजासन्नं भवति। अतः स्फुट तथा मध्यमाहर्गणोत्पन्नग्रहयोः अन्तरानयनं क्रियते।

यथा क्षेत्रे –

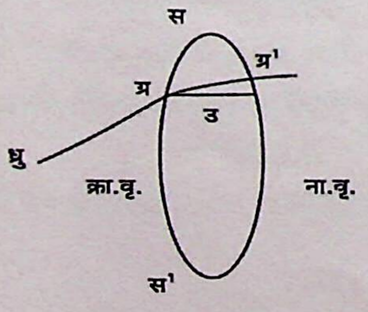

ग्र = क्रान्तिवृत्ते मध्यमार्कः

---

[1] सि.शि. गणिताध्यायः, स्पष्टाधिकारः, श्लो. 62-63

ग्र^{1} = नाडीवृत्ते मध्यमार्कः

स = गोलसन्धिः

सग्र = भुजांशः, ध्रु = ध्रुवस्थानम्

सग्र^{1} = विषुवांशः

सग्र – सग्र^{1} = उग्र^{1} = उदयान्तरम्।

मेषादारभ्यार्कस्य भुक्तराश्योदयासवानां योगं क्रियते। इदमसुवात्मककाले दिनात्मकाहर्गणोत्पन्न भवी। पुनः मेषाद्यादारभ्य भुक्तकलातुल्यान्तरमानयनं क्रियते। अनयोः असुकलयोः यं अन्तरं भवति तमन्तरमेव अहर्गणेऽपि भवति। तदा अनुपातं क्रियते यत्

यदा अहोरात्रासवः = अहोरात्रगतिः लभ्यते, तदा अन्तरासवः = किमिति?

$$= \frac{\text{अहोरात्रगति} \times \text{अन्तरासवः}}{\text{अहोरात्रासवः}} = \text{अन्तरफलम्।}$$

यदा असु अधिकं सति तदा प्राप्तफलं योगं क्रियतेऽन्यथा ऊनं क्रियते। मध्यमस्फुटसायनाहर्गणयोरनतरमेव उदयान्तरं भवति। स्फुटग्रहानयनार्थं भुजान्तर-उदायान्तर- चरान्तरिति त्रय संस्कारेण ग्रहसाधनं भवति। यथा आचार्यभास्करमाह-

चेत् स्वोदयैः स्फुटरवेरसवः कृतास्ते
विश्लेषिताश्च यदि मध्यरवेः कलाभिः।
वाह्वन्तराख्यमुदयान्तरकं चराख्यं
कर्मत्रयं विहितमौदयिके तदा स्यात्॥[1]

$$\text{“उदयानतफल} = \frac{\text{ग्रहगति} \times \text{ज्या} \times 2(\text{सावनार्कः})}{260}$$

इहैव स्वीकरोतु आचार्यभास्करेणाऽपि-

मध्याद्रवेरयनभागयुताद्द्विनिघ्नाद्
दोर्ज्या लघुर्गतिगुणा खनगाश्चि भक्ता।
स्वर्णं ग्रहे युगयुजोः पदयोर्विलिप्ता-
स्त्वेवं स्फुटं खलु भवेदुदयान्तरं वा॥[2]

क्रान्तिवृत्तस्य चत्वारि पदानि भवति। प्रत्येक पदा पंचदशघटिकायाम् उदितं भवति किन्तु प्रत्येकराशिः पंचघटिकायाम् उदितं न भवति। इदमुदयान्तरं पदमध्यावधि यावत् उपचितं भवति तावदेव पदान्ते समाप्तिर्भवति।

---

[1] सि.शि., गणिताध्यायः, स्पष्टाधिकारः, श्लो. 64

[2] सि.शि. गणिताध्यायः, स्पष्टाधिकारः, श्लो. 65

पदमध्येऽस्य परमता भवति। आचार्यभास्करेण अत्र निरक्षोदयकर्मप्रदर्शितं किन्तु तं ''बालानां बोधाय'' एवास्ति इदं स्थूलमानं अस्ति, यतोहि उदयमानमेव स्थूलात्मकमस्ति। येन कारणेनेव आर्यभट्ट(द्वि.) महोदयेन द्रेष्काणउदयमानस्योल्लेखं अस्ति। यथा-

> द्रेष्काणज्याः सर्वा मिथुनान्तद्युज्यया निघ्न्यः॥
> स्वस्वद्युज्याभक्तास्तच्चापकला भवन्त्यसवः।
> तोऽधो विशोधिताः स्युर्निरक्षदेशोदयाः क्रमशः॥
> तत्कालरवेरयनसंस्कृतमूर्तेर्द्दकाणभोगलवाः।
> तदुदयहतायनहता भोग्याः प्राणाः भवन्ति तान जह्यात्।
> इष्टप्राणेभ्योऽन्यानुदयांश्चाथावशेषयेनबधात्।
> अविशुद्धोदय लब्धा भागास्तात्कालिके रवौ क्षेप्याः॥
> शुद्धोदय भागाश्चासौ लग्नं संस्फुटं भवति।
> रात्रौ भगणार्धयुताद्भानोर्भोग्यं विधाय संशोध्यम्॥
> भोग्यः शुद्धयति न यदा प्रश्नासुन्काहतिं तदा विभजेत्।
> भानुद्दकाणप्राणैलब्धांशाढ्यो रविर्लग्न्म्॥
> अयन संस्कृतभानोर्भोग्यं तद्वद्विलग्न भुक्तं च।
> क्षेप्यं मध्योदयज प्राणयुत तत्तनोर्भवेत् समयः॥
> एकस्मिन् द्दकाणे लग्नार्कौ चेत् तदान्तरांशहताः।
> पीनैभक्ता उदयासव इष्टास्ते भवन्त्यसवः॥[1]

मध्यमार्कस्य सायनअंशदोर्ज्या तथा द्युज्यानयनं कुर्यात्। दोर्ज्यायां मिथुनान्तद्युज्यागुणनं कृत्वा द्युज्यया विभाजनं कार्यं कुर्यात्। अस्य धनुकरणे प्राप्तासवानां मध्यमार्कस्य सायनांशानां भुजकला ऊनं कृते स्फुटान्तरासवः भवन्ति। ये उदयस्यान्तरतुल्यं सन्ति। पदमध्ये इदमन्तरं 26 पलात् किञ्चिदधिकं भवति।

$$\frac{26 \times \text{अभीष्टज्या}}{120} = \frac{\text{अभीष्टज्या 2 (सा.सू.)}}{4\frac{1}{2}} = \text{स्वल्पान्तरेण।}$$

पुनः अनुपातं क्रियते यत् यदि षष्टिघटिकायां ग्रहगतिकलातुल्य विकला चलति तदा अभीष्ट पलेषु किमिति?

$$\text{प्राप्तफल} = \frac{\text{अभीष्टज्या 2 (सा.सू)}}{4\frac{1}{2}} \quad \frac{\text{ग्र.ग. विकलाज्या}}{60}$$

$$= \frac{\text{ग्र.ग. विकलाज्या}}{270} \text{ गविकलादि फलम् ।}$$

---

[1] महासिद्धान्तः, त्रिप्रश्नाधिकारः, श्लो. 38-47

ओजपदे असवः कलादल्पं भवति अतः ग्रहे ऊनं कुर्यात्। युग्मपदे असवः कलादधिकं अतः ग्रहे युतिं कुर्याद्।

आधुनिकखगोलशास्त्रमते उदयान्तरम् $= \text{स्प}^2 \frac{\text{परमक्रान्ति}}{2}$ ज्या2 सा. सूर्यं भवति। अत्र परमक्रान्तिमानं 240 भवति। अतः $= \text{स्प}^2 \frac{24}{2} = 0.04519 = 155$ कला = 155 असवः = 155 ÷ 6 = 26 असवः एव प्राप्यते। यं आचार्य भास्करः स्वविवेकेन उक्तम्। बापूदेवशास्त्री महोदयेनाऽपि-

मध्यात्खरांशोरयनांशयुक्ताद्द्विघ्नाद्भुजज्या वृहती विनिघ्नी।
परापमव्यस्तगुणेन दृग्घ्न्या द्युजीवयाप्ता ग्रहभुक्ति निघ्नी॥
हृता द्युरात्रासुभिराप्तलिप्ता ग्रहे विधेयाः स्वमृणं क्रमेण।
सहस्त्ररश्मौ युगयुक्पदस्थे सुसूक्ष्मेवं ह्युदयान्तरं स्यात्॥

यद्यपि उदयान्तरसंस्कारस्य ध्यानं कृत्वा सर्वप्रथम आचार्य श्रीपति एव स्वविचारं प्रकटयति यत्-

त्रिभविरहित चन्द्रोच्चेन भास्वद् भुजज्या
गगननृपतिनिघ्नी भत्रयज्या विभक्ता।
भवति चर फलाख्यं तत् पृथकस्थं शरघ्न
हतमुडुपति कर्मत्रिज्ययोरन्तरेण॥
परं फलमवाप्तं तद्धनर्णं पृथकस्थे
तुहिनकिरणकर्णे त्रिज्याकोनाधिकेऽथ।
स्फुट दिनकरहीनादिन्दुतो या भुजज्या
स्फुट परमफलघ्नी भाजिता त्रिज्ययाप्तम्॥
शशिनि चरफलाख्यं सूर्यहीनेन दुगोलात्
तदृणमुत धनं चेन्दुच्चहीनार्क गोलम्॥
यदि भवति हि साम्यं व्यस्तमेतद्विधेयं
स्फुटगणित दृगैक्यं कर्तुमिच्छुभिरत्र॥

एभिः त्रिभिः श्लोकैः आचार्यश्रीपतिना चन्द्रे विशेष संस्कारं कथितं यत् कस्मिश्चदपि प्राच्य ग्रन्थे नास्ति। यद्यपि-

"इनदुच्चोनार्ककोटिघ्ना गत्यंशा विभवा विधोः।
गुणो व्यर्केन्दुदोः कोटयोरूप पञ्चाप्त्योः क्रमात्॥
फले शशाङ्कतद्गत्योर्लिप्ताद्ये स्वर्णयोर्वधे।
ऋणं चन्द्रे धनं भुक्तौ स्वर्णसाम्यवधेऽन्यथा॥"

अस्योलेखं मुञ्जालाचार्यस्य "लघुमानस नामक करणग्रन्थे" अस्ति किन्तु सादृश्याभावेन श्रीपतिः वेधद्वारा अवलोकनं कृत्वा तं लघुमानसोक्तेन भिन्नं कथितमस्ति। परन्तु मूलतथ्यं मुञ्जालाचार्यस्येवास्ति।

(घ) नतकर्मवासना

तिथ्यन्तनाडीनतबाहुमौर्व्या लघ्व्यार्कशीतांशुफले विनिघ्ने।
क्रमेण भक्ते नखगोसमुद्रैः कङ्गाग्निवेदैः फलहीनयुक्तः॥
प्राक्पिश्चमस्थस्तरंणिर्विधुः प्राक् ऋणे फले युक्त इतोन्यथोनः।
मुहुः स्फुटातो ग्रहणे रवीन्द्वोस्तिथित्विदं जिष्णुसुतो जगाद॥[1]

अर्थात् चन्द्रग्रहणेऽर्कग्रहणे वा यास्तिथ्यन्ते नतनाड्यस्ता रस गुणा भागाः भवन्ति। तेषां लघ्वी दोर्ज्य साध्या। तयार्कशीतांशुभुजफले गुण्ये। नखगोसमुद्रैश्चन्द्रस्य कङ्गाग्निवेदैर्भाज्ये। यदि फले अंशाद्ये गुणिते तर्हि अंशाद्या लब्लिर्ग्राह्याः, यदि कलाद्ये तदा कलाद्या। तेन लब्ध फलेन प्राक्कपालस्थो विहीनः कार्य्यः। अतोन्यथा प्राक् पश्चाद् वा हीन एव। अतः पुनस्ताभ्यां तिथिः। पुनर्नतकर्म च यावदविशेषः। "इदं जिष्णुसुतो जगाद" इति। एतदागमप्रमाण्येनास्माभिर्लिखितमित्यर्थः। चतुर्वेदाचार्य्येणाप्युपलाब्धेरेव वासनित्यभिहितम्। यदि ईद्दृष्युपलब्धिरास्ति तदास्माभिः किं नाङ्गीकर्तव्यमिति भावः।

अस्य सम्यक् प्रतिपादनं आचार्यब्रह्मगुप्तेन वर्णितम् -

"तद् द्युदलपरिध्यन्तरगुणा.........संव्यवहारार्थमेवं वा॥"[2]

अर्थात् नतजीवा (इष्टनतकालज्या) तद् द्युदलपरिध्यन्तरगुणा तच्छब्देनौदयिक-स्यास्तमयिकस्य वोन्मण्डलपरिधेर्वा ग्रहणं तस्य दिनार्धपरिधेश्च यदन्तरं तेन गुणा (त्रिज्याभक्ता) लब्धं फलं दिनार्धपरिधौ धनमृणं वा कार्यम्। येन परिधिना सह दिनार्धपरिधेरन्तरं तस्मादूने दिनार्धपरिधौ धनमधिके ऋणं विधेयम्। तदाभीष्टस्थानीयः स्फुटः परिधिर्भवेदिति। श्रीपतिनाऽपि "तद्दिनार्धपरिधिद्वयान्तरेणाहता स्वनतशिंजिनीहृता। त्रिज्ययाऽथ परिधौ दिनार्धजे हीनके स्वमधिके त्वृणं स्फुटम्" अनेनाऽचार्योक्तानुरूपमेव कथितमिति।

अथ रविचन्द्रयोर्दिनार्धपरिधिभ्यां देशान्तरादिस्फुटिकरणं कृत्वा ताभ्यां स्पष्टरविचन्द्राभ्यां ग्रहणे तिथ्यन्तः साध्यः, तत्तिथ्यन्तकालिकाभ्यां चन्द्रार्कयोः स्फुटपरिधिभ्यां स्फुटौ रविचन्द्रौ साध्यौ, ताभ्यां स्फुटरविचन्द्राभ्यां पुनस्तिथ्यन्तः साध्यः पुनः स्पष्ट परिधिभ्यां स्फुटौ रविचन्द्रौ साध्यावेवमस्कृतकरणेन ग्रहणोपयुक्तौ स्पष्टरविचन्द्रौ भवेतामिथ्यामार्याभिप्रायो भास्कराचार्येण प्रस्फुटीकृतोऽत एव सिद्धान्तशिरामणौ "मुहुः स्फुटातो ग्रहणे रविन्द्वोस्तिथिस्त्विदं जिष्णुसुतो जगाद" इति।[3]

चन्द्रग्रहणे तिथ्यन्ते (पूर्णान्तकाले) दिनदलात् (मध्याह्नकालात्) प्राक्श्चाद्वा याभिर्घटिकाभिः (यन्मिताभिः घटीभिः) सूर्यो नतो भवति तत्सूर्यस्य नतकालमानं विहितं भवति। त्रिंशद्घटिकावशेषाभिस्ताभिर्घटिकापिर्भविपरीतं अर्धरात्रात् शशी नतो भवति। अर्थाद्याभिर्घटिकाभिस्तिथ्यन्ते रविर्नतस्ताभ्यास्त्रिंशद्घटिका विशोध्यावशिष्टं चन्द्रस्यार्ध-

---

[1] सि.शि., स्पष्टाधिकार, श्लो. 68
[2] ब्रा.स्फु.सि., स्प.अ., श्लो. 22, 24, 28, 32
[3] सि.शि., स्प., श्लो. 68

रात्रिद्विपरीत नतं भवति। यदि रवेः प्राक् तदा चन्द्रस्य पश्चाद् यदि रवेः पश्चात्तदा चन्द्रस्य प्रागर्धरात्रान्नतं भवति। रविग्रहणे याभिर्घटिकाभिः सूर्यो नतो भवति ताभिरेव घटिकाभिश्चन्द्रोऽपि तस्मिन्नेवकपाले नतो भवतीति श्रीपतिनाऽपि तथैवोक्तम् "प्राक्पश्चाद्वा दिवसशकलाद्याभिरर्को घटीभिस्तिथ्यन्ते स्यान्नत उडुपतिस्ताभिरेवार्धरात्रात्। व्यस्तं चन्द्रग्रहण समये वाऽभ्रराम 30 च्युताभिः सूर्यग्रासे रविरिव विधुः स्यान्नतः प्राक्प्रतीच्योः" इति। तत्र दिनदलपरिधिभ्यां यौ स्फुटरविचन्द्रौ ताभ्यां या तिथिः (तिथ्यन्तः) तत्र यो नतः (नतकालः) तस्य केन्द्रस्य च ज्ययोर्वधः (वातः) कार्यः। स च यदि रवेस्तदेन्द्नतिधृतिभिः गुणितः। यदि चन्द्रस्य तदा नवनववेदैर्गुणितस्त्रिज्यावर्गभक्तः फलं विकला भवति, एतत्फलं प्राक्नते सूर्ये ऋणं पश्चान्नते धनं कार्यम्। चन्द्रे तत्पूर्वागतं विकलात्मकं प्राक् कपाले मन्दफले ऋणात्मके धनं कार्यमन्यथा प्राक्पश्चिमे ऋणमेवकार्यमेवमसकृतकार्यं तदा वा स्फुटौ रविचन्द्रौ भवतः।

प्रसङ्गेस्मि श्रीपतिनापि- "तत्तिथ्यन्तनतोद् भवोत्क्रमगुणः क्षुण्णः स्वकेन्द्रज्यया, गोऽक्षाभ्रेन्दुरसै रवेः शररसाग्न्यब्ध्यश्विभिः शीतगोः। भक्तोऽथ क्रमशो भवन्ति विकलास्ताः प्रागृणं स्वं रवौ पश्चाच्छीतकरेऽन्यथा क्षयकाले हानिर्धनं चासकृत्"[1] इत्यत्र केवलमाचार्येण ब्रह्मगुप्तेन 3270 मिता त्रिज्या गृहीता, श्रीपतिना च 3415 मिता त्रिज्या गृहीता, आचार्यभास्करेण 3438 मिता त्रिज्या गृहीताः तज्जन्यो भाज्यभाजकयोः स्वल्पभेदः समुचित एव। परन्तु आचार्योक्तनतज्यास्थाने श्रीपतिना नतोत्क्रमज्या-गृहीताऽत्रकारणं लल्लचार्यानुयायिचतुर्वेदाचांर्यव्याख्यानमेवावलम्ब्येति प्रचीयते, यतो हि ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तस्य "तद्युदलपरिध्यन्तरगुणे"[2] ति श्लोकस्य व्याख्यायां त्रिज्यातुल्या नतज्या इत्यत्र "त्रिज्यातुल्यया नतोत्क्रमज्यया" इत्यादिनाऽनुपातः प्रदर्शिततस्तेन।

अत्राभ्यां पूर्वोक्तसूर्याचन्द्रमसोष्टिकालिकपरिध्यन्तरफलाभ्यां संस्कृतौ चन्द्रर्कौ ग्रहणोपयुक्तौ भवेताम्। अत्रानुपातविषयस्य समगतिकत्वात् चालने न स्फुटगत्योः प्रतिक्षणं विलक्षणत्वाच्च नैषः संस्कारः सकृत् साधनोपयुक्तः। तेनासत्कृत कर्म कर्तव्यम्। एतदुक्तं भवति। रविचन्द्रयोर्दिनार्धपरिधिभ्यां देशान्तरादिस्फुटीकरण कृत्वा स्फुटाभ्यां ताभ्यां रविचन्द्राभ्यां ग्रहणे तिथ्यन्तं साधयेत्। ततोऽन्तरं तत्तिथ्यन्तकालिकाभ्यां चन्द्रार्कयोः स्पष्टपरिधिभ्यां पुनः स्फुटौ रविचन्द्रमसौ कार्यौ। ताभ्यां पुनस्तिथ्यन्तः। पुनः स्पष्टपरिधिभ्यां स्फुटौ रविचन्द्रौ। एवमसकृत स्फुटौ रविचन्द्रौ ग्रहणोपयोगिनौ भवत इति ब्रह्मगुप्तोभिप्रायो विशदीकृतो भाष्कराचार्यैरिति यथा- **"तिथ्यन्तनाडीनतबाहु....... जिष्णुसुतो जगाद्।"**[3]

तथा च **"फलनतजीवाघाताद्रविशशिनोर्वा विलिप्तिकालब्धिः।"**[4]
गुणदिग्भिरेकन्दध्रैर्धनहानीपूर्ववत्तासाम्।

इति ब्रह्मगुप्तखण्डखाद्यकोत्तराध्यायोक्तमादर्शीकृत्य श्रीपतिना 3415 त्रिज्यायां भास्करेण च 120 त्रिज्यायां तथैव धनर्णफलमानीतमिति। तद्यथोक्तं भास्करेण वासनाभाष्ये "अत नतभागज्याया भागत्र्यंशो गुणास्त्रिज्याहारः 120। एवं कृते सति नतज्यायाः षष्ट्यधिकशत्रयं भागहारः। फलं स्फुटपरिध्यन्तरम्।

---

[1] सि.शे., स्फुट. अधि., श्लो. 31
[2] ब्रा.स्फु.सि., स्प.अ., श्लो.
[3] सि.शि., स्प.अ., श्लो. 68-69
[4] खण्डकाद्यक, ग्रहणोत्तराध्याये, पृ. 203 तृतीश्यलोके मूलपाठे

अथाऽन्योऽनुपातः। यदि त्र्यंशोनैश्चतुर्दशभिः परिधिभागैरिदं फलं लभ्यते तदा स्फुटपरिध्यन्तरेण किमिति, अत्र फलस्य नतज्यागुणः परिध्यंशाः षष्ट्यधिकशतत्रयं च हरः इदानीं हरयोर्घाते उत्पन्ना नखगोसमुद्राः एवं चन्द्रस्यापि इति।[1]

मध्याह्नपरिधितः प्रस्फुटीकृताभ्यां रविचन्द्राभ्यां साधितस्तिथ्यन्तो गणितागतस्तिथ्यन्तः। तथा चासकृत्प्रकारसाधितनतकर्मसंस्कृतचन्द्रार्कोत्पन्नस्तिथ्यन्तो ग्रहणोपयुक्तो वास्तवस्तिथ्यन्तः कथ्यते। उभयोस्तिथ्यन्तयोरनयोरन्तरघटीमानं = या। आभिर्घटिकाभिश्चालितौ रविचन्द्रौ स्फुटौ ग्रहणोपयुक्तौ भवतः इत्यर्थः। ततोऽनुपातेन यदि घटीषष्ट्या रविचन्द्रयोर्गत्यन्तरकला लभ्यते तदा या घटीभिः काः? समागता "या" घटीषु

$$\text{रविचन्द्रान्तरकलाः} = \frac{\text{च ग क - र ग क}}{60} = \text{या} = \text{ग} \times \text{या, अत्र ग} = \frac{\text{च ग - र ग}}{60}\ \text{।}$$

अथाऽन्यथा वा तदन्तरकलाः साध्यन्ते। तत्र गणितागततिथ्यन्ते कल्प्यन्ते रवेर्नतकालभागाः = न। वास्तवगणितागततिथ्यन्तयोरन्तरघटिकासम्बन्धिनोंऽशाः = 6 या। अनयोः संस्कारेण वास्तवतिथ्यन्ते नतकालभागाः न + 6 या।

ततो "तिथ्यन्त नाडीनतबाहुमौर्व्या"[2] इत्यादि भाष्करविधानेन रवेर्वास्तवं नतकर्म =

$$\frac{\text{र मं फ} \times \text{ज्या (न} \quad \text{या}}{4920}$$

$$\text{चन्द्रस्य वास्तवं नतकर्म} = \frac{\text{च मं फ} \times \text{ज्या (नि} \quad \text{या)}}{4375}$$

आभ्यां नतकर्मफलाभ्यां संस्कृतौ रविचन्द्रौ स्फुटौ वास्तव तिथ्यन्तकालिकौ भवेताम्। तयोरन्तरं वास्तवगणितागततिथ्यन्तकालान्तरकालिक रविचन्द्रान्तरेण समं भवति। नान्यथा तिथ्यन्यत्वव्यपदेशः साधीयान्। अतः पूर्वानीतनतकर्मणः संस्कारः प्रागानीतेन "या" सम्बन्धिगतिमानेन समः स्यात्।

$$\frac{\text{च फ} \times \text{ज्या (न} \quad \text{या)}}{4375} \quad \frac{\text{र फ} \times \text{ज्या (न} \quad \text{6या)}}{4920}$$

$$\text{अत्र} \frac{\text{च फ}}{4375}\ \text{च फ}^1, \frac{\text{र फ}}{4920} = \text{र फ}^1,$$

$$\text{या} \times \text{ग} = \text{च फ}^1 \times \text{ज्या (न + या) + र फ}^1 \times \text{ज्या (न + 6या)}$$

$$= \text{ज्या (न + 6या) (च फ + र फ)}$$

पक्षयोः समभजनेन-

---

[1] सि.शि., स्प.अ., वासनाभाष्ये, श्लो. 68-69

[2] सि.शि., स्प.अ., श्लो. 68

$$\frac{\text{ग}}{\text{च फ}^{1} \quad \text{र फ}} \quad \text{या} = \text{ज्या (न + 6या)}$$

$$= \frac{\text{ज्या न. कोज्या 6 या} \quad \text{कोज्या न. ज्या 6या}}{\text{त्रिज्या}}$$

अत्र लघुज्यया ज्यासाधनेन –

नतकालभागानामत्यल्पत्वात् - ज्या 6या = $\dfrac{21.6\text{या}}{10}$ एवं कोज्या 6या =

$$\text{त्रि. - }\frac{21^{2}.6\ 6^{2}\ \text{या}}{2\ \text{त्रि. }10^{2}} = \text{ज्या न} \quad \frac{\text{कोज्या न. }21.6\text{या}}{10\ \text{त्रि.}}$$

$$\frac{\text{ग}}{\text{च फ}^{1} \quad \text{र फ}^{1}} =$$

$$\frac{\text{ज्या न.}}{\text{या}} - \frac{21^{2} \times 6^{2} \times \text{या} \times \text{ज्या न}}{2\ \text{त्रि}^{2} \times 10^{2}} \quad \frac{\text{कोज्या न. }21 \times 6}{10 \times 120}$$

$$\frac{\text{ज्या न.}}{\text{या}} - \frac{\text{या} \times \text{ज्या न}}{2\,{\frac{200}{21}}^{2}} \quad \frac{\text{कोज्या न.}}{\frac{200}{21}}$$

$$\frac{\text{ज्या न.}}{\text{या}} - \frac{\text{या} \times \text{ज्या न}}{2\text{हा}^{2}} \quad \frac{\text{कोज्या न}}{\text{हा}}, \left(\text{अत्र } \frac{200}{21} = \text{हा}\right)$$

पक्षयोः समगुणनेन

$$\frac{\text{ग}}{\text{च फ}^{1} \quad \text{र फ}^{1}} \quad \text{हा} = \frac{\text{हा} \times \text{ज्या न}}{\text{या}} \quad \frac{\text{या} \times \text{ज्या न}}{2\text{हा}} \quad \text{कोज्या न}$$

ध्रुवः = ध्रुः, समशोधनेन-

$$= \text{ध्रुः कोज्या न} = \frac{2\text{हा} \times \text{ज्या न - या} \times \text{ज्या न}}{2\text{या} \times \text{हा}}$$

$$\frac{\text{ध्रु} \quad \text{ज्या न}}{\text{ज्या न}} = \frac{2\text{हा}^{2} - \text{या}^{2}}{2\ \text{या} \times \text{हा}} = \text{अ}$$

या^{2} + 2 या. हा. अ = 2हा^{2} ततो वर्गपूर्णनेन-

या^{2} + 2या. हा. अ + हा^{2} . आ2 त्र 2 हा^{2} + हा^{2} . अ^{2}

मूलग्रहणेन-

या + हा. आ त्र हा (2 +अ2) त्र हा मू.

या = हा (मू – अ)।

एतेन वास्तवगणितागततिथ्यन्तयोरन्तरघटिकामानं विज्ञाय ततश्चंद्रार्कौ प्रचाल्य ताभ्यां स्फुटरविचन्द्राभ्यां सकृदेव स्फुटतिथ्यन्तकालः सेत्स्यति। किमित्यसकृत्प्रपंचप्रयासेन।

एतेन म.म.प. सुधाकर द्विदेदिनः सूत्राण्यवतरन्ति-

गत्यन्तरकलाः षष्टिभक्ता गत्यन्तरं भवेत्।
फललिप्ताः स्वहाराप्ता रीवन्द्वोश्च फलं क्रमात्।।
गत्यन्तरं फलवियोगहृतं विधोः प्राक्।
स्वे तत्फलेऽन्यसमये युतिहत पराख्यम्।।
खा भ्राश्विनो विधुकरैर्विहतां हरस्त-
न्निघ्नं परेण भवति ध्रुवसंज्ञकं तत्।
स्वीय ध्रुवो नतकोटिगुणेन हीनो-
मौर्व्यानतासु भवया विहतोऽपरोऽस्य।
वर्गास्पदं करयुताद् परोनितं तद्घरघ्न-
मेवमिह दण्डमुखं विधोः प्राक्।।
अश्वे फले रविफलात् स्वफलस्य बाल्ये
हीनान्यथा च सहितेष्टफलेन नूनम्।
तिथ्यन्तदण्डमितिरत्र भवेत्स्फुटा सा-
प्राक् चेद्विधोर्धनफलाल्पमथान्न सौरम्।
तर्हि ध्रुवात् सनतकोटिगुणादिहान्यः
साध्योविदा गणितगोलविदामुदैव।
श्रीब्रह्मगुप्तनतकर्म भवेत् सुसूक्ष्म-
मेवं सकृत् सकसज्जनरजनार्थम्।। इति।

उदयान्तरभुजान्तरादि संस्कारेण यो हि स्पष्टग्रहः समागच्छति। वस्तुतो नहि स्पष्टग्रह इति ब्रह्मगुप्तोक्तनतकर्मोपादानेन तत्साधनकर्त्रोः श्रीपतिभाष्करयोश्च लेखादपि ज्ञायते। सर्वे आकाशस्था ग्रहादयो भूवायुगोले परिणता अस्माकं प्रत्यक्षीभूताः स्पष्टा भवन्ति, तेन स्पष्टीकरणेन ये स्पष्टग्रहाः समागच्छन्ति तेषु यावता संस्कारेण गोलाध्याये नतकर्म। उक्तं च भाष्करेण गोलाध्याये नतकर्मणः प्रयोजनविषये। तद्यथा-

''प्राक्पश्चात् प्रमिण्डलस्थखचरं द्रष्टा कुमध्यस्थितः।
कक्षायां खलु यत्र पश्यति नतं नो तत्र भूपृष्ठाः।।
मध्याह्ने तु कुमध्यपृष्ठानरौ तुल्यं यतः पश्यत्-
स्वेनोक्तं नतकर्मलम्बनविधौ या युक्तिरत्रापि सा।।''[1]

---

[1] सि.शि., गो.अ.छे.अधि., श्लो. 38

परन्तु नतकर्मविषये ब्रह्मगुप्ततः प्राचीनाः सूर्यसिद्धान्तकारार्थभट्टप्रभृतिभिः स्वस्वसिद्धान्ते न किमपि लिखितवन्तस्तथा कमलाकरेण तु नतकर्मणः खण्डनं सिद्धान्ततत्त्वविवेके विहितम्। तद्यथा-

> **''यद् ब्रह्मगुप्तगदितं नतकर्म तत्तु,**
> **दृग्गोलसद्गणितवासनया न लभ्यम्।**
> **तेनार्षलम्बनवशाद् ग्रहयोगसिद्धौ,**
> **तन्नैव सद्बुधवरैरिति चिन्तनीयम्॥''**[1]

तथा च शेषवासनायां ''अत्र जिष्णुजोक्तनतकर्मानार्षमूलकं कुत्रापि तन्मूलादर्शनात्। तेन स्वसत्ताकाले लक्षितमित्युच्यते तदपि न।''[2] ''प्राक्पश्चादिति'' भाष्कराचार्याङ्गीकृतयुक्त्याऽप्यसिद्नेस्तदानयनस्य खमध्यं त्यक्त्वा मध्याह्ने तदभाव उक्तो न सङ्गच्छते यच्चोच्यते लम्बनवत्तल्लम्बनं सवासनमुक्तमेव पृष्ठसूत्रगतानामिति भ्रान्तादृतं तत्कल्पितं बुधैर्नादरणीयमिति।''

युक्त्यागमप्रत्ययेषु प्रामाण्यविषयेषु युक्त्यागमयोरप्रसङ्गस्थले प्रत्यक्षमेव प्रमाणिमिति शिष्टादृतां सरणिमनुसरता ब्राह्मस्फुटकृता दृग्गोचरीभूते सूर्योपप्लवे प्राचीनार्चितपथेन वैषम्यं तथा संस्कारविशेषेणानेन तदविसंवादं च समभिलक्ष्य नान्योदितमप्येतन्नतकर्म विहितम्। यद्यपि विसंवादे को हेतुः संवादे च का युक्तिरित्यत्र किंचिन्नावोधि ग्रन्थकृता तथापि मन्मते नतकर्मसंस्कारस्यातीवावश्यकता प्रतीयते। विषयेऽसिमन् सासारविचारदक्षाः सुधीवरा भृशं विचारयन्तु।

वयं तु किरणवक्रीभवेन वाय्वाघातेन वा विक्षिपन् बिम्बग्रहस्तदानीं तत्र नावलोक्यते किन्त्वन्यत्र विक्षिप्यत इति नव्ययुक्तेरनिवार्यकत्वेनास्मिन् ग्रहणेऽपि तथात्वसंभावनया तद्दर्शनं च भवितुमर्हति- इत्यनुमीमहि यत्तु ''स्वदिनार्धपरिधिः'' इत्यत्र ''ब्रह्मगुप्तेनेदं स्पष्टीकरणं नतकर्मसंस्कारमन्तरा व्यवहारार्थं स्थूलं प्रतिपादितमिति स्फुटमेव परन्तु भास्करेणेदं स्थूलमेव रविचन्द्रयोः स्पष्टीकरणं सूक्ष्मत्वेन सर्वकर्मार्हमङ्गीकृतम्। केवलं रविचन्द्रग्रहणयोरेव नतकर्मसंस्कारः आनीतः। वाग्वलादेव ''मुहुः स्फुटाऽतो ग्रहणे रवीन्द्वोस्तिथिस्त्विदं जिष्णुसुतो जगाद'' इति भास्करेण ब्रह्मगुप्तमतमन्यथा प्रतिपादितमिति सुधीभिर्भृशं विचिन्त्यम्'' इति म.म.पं. सुधाकर द्विवेदिभिर्लिखितं तन्नविचारसहं यतोग्रहणं इत्युपलक्षणं तेनान्यत्रापि नतकर्मसंस्कारो न वार्यते। अन्यथा ''देशान्तराद्यमेवं-'' इत्यादि ब्रह्मगुप्तोक्तप्रधानस्पष्टिकरणीयतिथ्यन्तो-पादानमपि विरुध्यते। एतेनाचार्यांशयमज्ञात्वैव दुरुक्तिरियम्।

(क) सिद्धान्तशिरोमणेः परिचयः

भास्करेण द्वादशशताब्द्यां विरचिते सिद्धान्तशिरोमणौ चत्वारोऽध्यायाः सन्ति। तत्र प्रथमोऽध्यायः व्यक्तगणिताख्यः पाटीगणिताख्यो वा पाटीगणितम्, द्वितीयो बीजगणिताख्योऽव्यक्तगणिताख्यः तृतीयो ग्रहगणिताध्यायः, चतुर्थश्च गोलाध्यायः। प्रत्येकध्यायष्वनेका उपाध्याय अपि सन्ति। येषां विवेचनं संक्षेपेणाग्रे क्रियते-

---

[1] सि.त.वि., स्प.अ., श्लो. 451
[2] सि.त.वि., शेषवासना, पृ. 198-199

1. लीलावती पाटीगणिताध्यायः -

अस्मिनध्यायेऽभिन्नशून्यपरिकर्माष्टकेषु संकलनव्यकलनगुणनभजनवर्गवर्गमूलघन- घनमूलादयोऽष्ट परिकर्माणि सन्तीति। एतदतिरिक्तिास्तत्र व्यक्तविधि-इष्टकर्म-संक्रमण-वर्गकर्म-गुणकर्म-त्रैराशिक-व्यस्त-त्रैराशिक-पञ्चराशिक-सप्तनवराशिक-राशिव्यवहार-छायाव्यवहार-कुट्टक-अङ्कपाशादय उपाध्यायाः सन्ति। एतेषूपाध्यायेषु प्रायशोऽङ्कगणितीया सर्वे विषयाः समविष्टाः सन्ति।

2. बीजगणिताध्यायः -

अत्र बीजगणिते धनर्णषड्विधं – खषड्विधमव्यक्तषड्विधमनेकवर्णवर्णषड्विधं-करणीयषड्विधं-कुट्टक-वर्गप्रकृतिश्चक्रवाल-एकवर्णसमीकरणोऽनेकवर्णसमीकरणोऽनेक-वर्णमध्यमाहरणर्भावितश्चव्याख्या उपाध्यायः सन्ति। इमौ लीलावती-बीजगणिताख्यौ पूर्वाध्यायौ लोके स्वतन्त्रग्रन्थरूपेण प्रसिद्धौ स्तः।

3. ग्रहगणिताध्यायः -

अत्र सिद्धान्तज्यौतिषविषयाणां गणितीयविवेचनमस्ति भास्करेण स्वपूर्वाचार्याणां ग्रन्थानां स्वमतानुसारं खण्डनं मण्डनञ्च कुर्वन् सन् मुख्यतः ब्रह्मस्फुटसिद्धान्तमनुसृत्य स्वसिद्धान्तशिरोमणेः रचना कृता। यथा तैः स्वयमेवोक्तम् –

कृति जयति जिष्णुजो गणकचक्रचूडामणि-
र्जयति ललितोक्तयः प्रथिततन्त्रसद्युक्तयः।
वराहमिहिरादयाः समवलोक्य येषां कृतीः
कृतीभवति मादृशोऽप्यतनुतन्त्रबन्धेऽल्पधीः॥[1]

सूर्यग्रहणाधिकार-ग्रहच्छायाधिकार-ग्रहोदयास्ताधिकार-शृङ्गोन्नत्याधिकार, ग्रहयुत्याधिकार-पाताधिकारश्च सन्ति। एतेषामपि परिचयोऽत्र दीयते –

1. मध्यमाधिकारः -

अत्र कालमान-भगण-ग्रहानयन-कक्षा-प्रत्यब्दशुद्धि-अधिमासादि षड्विभागाः सन्ति। विंशत्युत्तरशत श्लोकेषु भगवान् सूर्यस्य स्तुतिः, पूर्वाचार्याणां प्रशंसा, ग्रन्थरचनायाः प्रयोजनम्, सुजनगणकानां प्रार्थना, सिद्धान्तग्रन्थलक्षणप्रशंसाश्च ज्योतिश्शास्त्रस्य वेदाङ्गत्व निरूपणम्, अनाद्यन्तकालस्य प्रवृत्तिः, नवविधार्कदैवचान्द्र-पैत्र्यसावननाक्षत्रब्राह्मबार्हस्पत्यमानुषमानानां सम्यग् समीचीनञ्च वर्णनम्, ग्रहाणां मन्दोच्च भगणादीनाञ्च कथनम्, अहर्गणाद् ग्रहानयनम्, प्रत्यब्दशुद्धिस्तथा चाधिमासादिः निर्णयमित्यादि विषयाणां विवेचनं सन्ति।

2. स्पष्टाधिकारः –

अस्मिन्नध्यायेऽर्धज्या-पूर्णज्या-चाप-क्रान्तिज्या-परमक्रान्तिज्या-भोग्यखण्ड-मन्द-परिधि-भौमदीनां, चलपरिधिः-कर्णानयन-गतिस्पष्टीकरण-शीघ्रफलानयन-ग्रहस्पष्टीकरण-ग्रहगतिशीघ्रफल-उदयास्तसम्भव-पलभाज्ञान-

---

[1] सि.शि., ग.म.का., श्लो. 3

पञ्चज्यासाधन-चरानयन-लङ्कोदयसाधन-भुजान्तर-उदयान्तर-औदयिककर्म-नतकर्म-स्फुटग्रहाणां तात्कालिकी-करणादीनां विषयाणां विस्तृतं विवेचनमत्र सप्तसप्तति श्लोकेषु दृश्यन्ते।

3. त्रिप्रश्नाधिकारः –

अत्र नवोत्तरशतश्लोकेषु लग्नसाधनम्, लग्नादिष्टकालज्ञानम्, विलोमलग्नसाधनम्, छायानयनम्, छाययाः कर्णज्ञानम्, कर्णाद् छायाज्ञानम्, अक्षक्षेत्राणि तथा चैतेषां साधनम्, कोणशङ्कोरानयनम्, दृग्ज्याहृतिरन्त्यादिदिनार्धशङ्कु-दिनार्धशङ्कु-दिनार्धदिग्ज्याछायाकर्णदिनार्धकर्ण, उन्मण्डलकर्णात् ध्यमकर्मछायाकालज्ञानं, छायार्कज्ञानं छाययाभुजादीनां विषयाणां विवेचनं सन्ति।

4. पर्वसम्भवाधिकारः –

अत्र पञ्चदशश्लोकेषु ग्रहणसम्भवासम्भवं ज्ञानं सन्ति।

5. चन्द्रग्रहणाधिकारः –

अत्राचार्येण ग्रहणाधिकारस्य महत्ता प्रयोजनञ्च प्रदर्शयन् सूर्यचन्द्रकक्षाव्यासकला-कर्णयोजनात्मककर्णयोजनबिम्बयोजनकलाबिम्बकलाचन्द्रविक्षेपग्रासस्थितिमर्दस्फुटीकरणा-दीनां इष्टकालात् भुजज्ञानम्, ग्रासत् कालज्ञानम्, वलनपरिलेखसम्मीलनादि विषयाणां विवेचनमेकोनचत्वारिंशत् श्लोकेषु कृतम्।

6. सूर्यग्रहणाधिकारः –

अत्र नतिलम्बनयोरानयनं प्रयोजनं परिभाषा च, दृक्क्षेपज्ञानम्, दृक्क्षेपात्नतिज्ञानम्, स्पर्शमोक्षसम्मीलनोन्मीलनादि विषयाणां सम्यग् स्पष्टं ज्ञानं भवति। एतेषां विषयाणां विवेचनामेकोनविंशतिश्लोकेष्वाचार्येण कृतम्।

7. ग्रहच्छायाधिकारः –

अत्र षोडशश्लोकेषु विक्षेप-दृक्कर्म-उदयास्त लग्नस्वरूपप्रयोजनादीनां तथा च ग्रहाणां द्युनतं क्रान्तिः छायासाधनादिविषयाणाञ्च विवेचनं कृतो वर्तन्ते।

8. उदयास्ताधिकारः –

अत्र ग्रहताराणां नित्योदयास्तयोर्गतगम्यलक्षणानि तदनन्तरघटिकाज्ञानं कालांशेष्ट कालांशादीनां विस्तृतं वर्णनं द्वादशश्लोकेष्वाचार्येण कृतम्।

9. शृङ्गोन्नत्याधिकारः –

अत्राऽपि द्वादशश्लोकेषु चन्द्रशुक्लाङ्गुलसाधनशङ्कुतलानयन-भुजज्ञान-दिग्वलन-परिलेखादीनां विषयाणां विवेचनं वर्तन्ते।

10. ग्रहयुत्याधिकारः –

अत्र ग्रहाणां मध्यमबिम्ब-स्पष्टीकरण-युतिकालज्ञानदक्षिणोत्तरज्ञान-भेद-योग-लम्बनादीनां विषयाणां वर्णनं नवश्लोकेष्वाचार्येण प्रदर्शितम्।

11. भग्रहयुत्याधिकारः –

अत्रैकविंशतिश्लोकेषु नक्षत्राणां ध्रुवकशरोदयास्तयुति-अगस्त्यलुब्धकादीनां विस्तृतं वर्णनं कृतमाचार्येण।

12. पाताधिकारः –

अत्र चन्द्रविशेषता-व्यतिपात-वैधृति-क्रान्तिपातस्थित्योर्द्धोपपत्ति-पातप्रयोजनादीनां विस्तृतं विवेचनमेकविंशतिश्लोकेषु वर्तन्ते।

4. गोलाध्यायः –

अस्मिन्नध्याये गणिताध्याये समगतानां विषयाणामुपपत्यात्मकं विवेचनमाचार्येण स्वपूर्वाचार्याणां मतानुसारं कृतम्। पूर्वाचार्येषु ब्रह्मगुप्तलल्लाद्याचार्याणां ग्रन्थेष्वेतादृशानां वर्णनं दृष्टिगोचरं भवन्ति।

अत्र गोलप्रशंसा-गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय-भुवनकोश-मध्यगतिवासना-छेद्यकाधिकार-गोलबन्धाधिकार-त्रिप्रश्नवासना-ग्रहणवासना-उदयास्तवासना-शृङ्द्रोन्नत्रिवासना-यन्त्राध्याय-ऋतुवर्णनाध्याय-प्रश्नाध्याय-ज्योत्पत्यादि चतुर्दशप्रकरणेषु केवलमृतुर्णन-प्रकरणं विहाय सर्वेषु प्रकरणेषु गणितीयव्युत्पत्यात्मकं विवेचनमेव दृश्यते। कतिपय स्थलेष पूर्वाचार्याणां खण्डनं मण्डनं कृत्वा सम्यग् समीचीनं मतमाचार्येणोद्धृतम्। उपर्युक्तोपाध्यायानां विस्तृतं विवेचनञ्चैवम् –

1. गोलप्रशंसा –

आचार्येण मङ्गलाचरणे भारतीयगणेशयोः वन्दनां कृत्वा नवश्लोकेषु गोलग्रन्थकारण-गोलप्रशंसा-गोलानभिज्ञगणकोपहास-गोलस्वरूप-गणितप्रशंसा-ज्योतिश्शास्त्रश्रवणाधिकारीलक्षण-व्याकरणवर्णनादि-विषयाणां विवेचनं प्रदर्शयन् स्वग्रन्थस्य सिद्धान्तशिरोमणेः प्रशंसा कृता। तद्यथा-

गोलं श्रोतुं यदि तव मतिर्भास्करीयं शृणु त्वं
नो संक्षिप्तो न च बहुवृथाविस्तरः शास्त्रतत्त्वम्।
लीलागम्यः सुललितपदः प्रश्नरम्यः स यस्माद्
विद्वन् विद्वत्सदसि पठतां पण्डितोक्तिं व्यनक्ति॥[1]

2. गोलस्वरूपप्रश्नाध्यायः –

अत्र दशश्लोकेषु गोलस्वरूपप्रश्नानां वर्णनं दृश्यन्ते। तैरत्र भूगोल-ग्रहस्पष्टीकरण-देशान्तरोदन्तरभुजान्तरचरोच्चनीचपातमहापाताकर्षणमन्दफलशीघ्रफलोदयास्ताहर्निशदिग्ज्याक्रान्तिज्या समशङ्ववाक्षांशग्रहणशृङ्गोन्नत्यादीनां सम्बन्धित-विषयाणां प्रश्नाः समुद्धताः।

3. भुवनकोशाध्यायः –

अत्र सर्वप्रथमं सृष्टिप्रक्रियायाः वर्णनं दृश्यते। तदनन्तरं भूमेरुपरि क्रमेण चन्द्रबुधशुक्ररविभौमगुरुशनिनक्षत्राणां कक्षाणां वर्णनं विद्यन्ते। एतेषां सर्वेषां पिण्डानामधारः कोऽपिवस्तु नास्तु। केवलं तेषां स्वशक्तिरेवैतेषामाधारोऽस्ति। अस्य भूमेः पृष्ठभागोपरि सर्वत्र मानवदेवदैत्यादयः सदैव तिष्ठन्ति। यथा कदम्बपुष्पग्रन्थिं परितः केसरप्रसरोऽस्ति तथैव भूमिं परितः सर्वत्रापि पर्वतोद्यानग्रामादयः सन्ति। पृथिव्याराधारः परम्पराया अपि आचार्यः खण्डनमकरोत्। अस्य मतस्य खण्डनं कुर्वनाचार्यः कथयति यत् यदि भूमेराधारः स्यात्

---

[1] सि.शि., गो.प्र., श्लो. 9

र्हि तस्याधारः कोऽस्ति। इत्यादयोऽनेकाः प्रश्ना उत्पद्यन्ते। अनेन प्रकारेण तूत्तरोत्तरमाधारकल्पनया अनवस्था दोषो भविष्यति। यद्यन्ते स्वशक्तेर्कल्पना भविष्यत्येव तर्हि पूर्वमेव कथं न तस्य स्वशक्तेः कल्पना अस्माभिः कर्तव्या। अत इदमेव तथ्यं यद् भूमिः स्वशक्त्यैव व्योम्नितिष्ठति। यथोक्तं भास्करेण –

आकृष्टिशतिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्तया।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥[1]

बौद्धमतानुसारं भूमेर्निरन्तरपतनस्य जैनानां द्वौ सूर्यौ द्वौ चन्द्रौ भवतोऽस्य मेरोः पृष्ठ भागे सूर्यस्य गमनात् रास्तिथा च भूमेः समतायाः खण्डनमाचार्येण दृढतापूर्वकं कृतम्। अनन्तरं पुराणोक्तं भौगोलिकं वर्णनमप्युद्धृतमस्ति तथा च लोकव्यवस्था-दिनव्यवस्था-भचक्रभ्रमणव्यवस्था-ध्रुवनक्षत्रस्थितिः ध्रुवोन्नतांश-भूपरिधि-व्यास-पृष्ठफल-प्रलय-ब्रह्माण्डादीनां विषयाणां विवेचनं दृश्यन्ते। अत्राचार्यस्य परिधिव्यासानुपातः 3.1416 मिलं समीचीनं तथा चाचार्यैः लल्लाचार्यस्य पृष्ठफलस्य खण्डनं कृत्वा स्वमतं स्थापितम्। उपर्युक्त सर्वेषां विषयाणां विवेचनमेकोनसप्ततिश्लोकेषु विद्यन्ते।

4. मध्यमगतिवासना –

अस्मिन्नध्याये ग्रहाणां मध्यमागतिः प्रथमत्रयश्लोकेषु भूमेरुपरि सप्तवायूनां वर्णनम्, प्रवहवायोर्वशात् ग्रहाणां पूर्वाभिमुखीगतिर्भवति। एतस्यानन्तरं वर्षमध्ये सावनदिनसंख्याचान्द्रमासाधिमासवमोपपत्युदयान्तरकर्मदेशान्तरपूर्वापरस्पष्टभूपरिधि-स्वरूपादीनां विषयाणां विस्तृतमुपपत्यात्मकं विवेचनं वर्तन्ते। अत्र पञ्चविंशतिः श्लोकाः सन्ति।

5. क्षेद्यकाधिकारः –

छेद्यकास्तत् सन्ति। यस्मिन् सूर्यादीनां पिण्डानां स्थानं कक्षाश्च भवन्ति। सर्वप्रथमं ज्योत्पत्तेः वर्णनम्, तदनन्तरं फलानयन-कर्णानयन-नीच्चोचवृत्तभङ्गि-नतकर्मगतिफला-भावभुजान्तरादीनां विषयाणामुपपत्यात्मकं विवेचनं सन्ति। अर्थात् मुख्यतोऽत्र मध्यम-ग्रहाणां स्पष्टीकरणार्थे, ग्रहगोलीयानेकयुक्तिनां व्याख्यानमुपपत्यात्मकञ्च ज्ञानं यत्र भवन्ति सोऽस्ति छेद्यकः। अत्रैवाचार्ये कथितं यत् पृथ्वी ब्रह्माण्डस्य केन्द्रे त्वस्ति परन्तु ग्रहाणां कक्षायाः केन्द्रं पृथिव्यां नास्ति। पृथिव्येत्तर कोऽपि बिन्दुः भवितुं शक्यते। उक्त विवेचनं चतुश्चत्वारिशत्श्लोकेषु सन्ति।

6. गोलबन्धाधिकारः –

अत्र सुसरलवंशशलाकावलयैः भूगोलखगोलयोः विषुवत् पूर्वापर-याम्योत्तर-क्रान्ति-कोणोन्मण्डलादिभ्यः वृत्तेभ्यः खगोलमध्ये भूगोलस्य स्वरूप निर्माणस्य विवेचनमाचार्येणात्र विहितम्। तथा चायनांश-क्रान्ति-शरादयः कतिपयोपगीनां वस्तूनां परिणाम ज्ञानायात्र नियमाः सन्ति। अस्मिन्नध्याये 31 श्लोकाः सन्तीति।

7. त्रिप्रश्नवासना –

अस्मिन्नध्यायैकोनपञ्चशतश्लोकेषु मुख्यतः 'दिग्देशकाल' विषयाणां विवेचनं दृश्यन्ते। यथा- चर-सूर्यादयास्तदिनमान-लङ्कोदयस्वोदयदिननिशोलघुत्वमहत्त्वहेतु-मेरुसंस्थान-चन्द्रस्यदिनरात्रिव्यवस्था-ब्रह्मदिवसोपपत्तिराश्युदय-लग्न-अक्षांश-लम्बांश-शङ्कु क्रान्तिक्षेत्र-अक्षेत्रादीनां विषयाणामुपपत्यात्मकं विवेचनमाचार्येण कृतम्।

---

[1] सि.शि., गो.भु., श्लो. 6

8. ग्रहणवासना –

अस्मिन्नध्याये चतुः सप्तति श्लोकेषु चन्द्रार्कग्रहणयोः स्पर्शमोक्षयोः दिग्व्यवस्था, छादकनिर्णयम्, नतिलम्बनयोः कारणम् अनयोरुपपत्यात्मकं विवेचनं, वलनवासना लल्लाचार्यस्य त्रुटिः प्रदर्शयन् एतेषां मतानां खण्डनं तथा चोक्तविषयाणां विवेचनमाचार्येण कृतम्।

9. उदयास्तवासना –

अस्मिन्नध्याये ग्रहाणामुदयास्तसम्बन्धि विचारो दृश्यते। ग्रहाणां नित्योदयास्तौ। कालांशवशादुयास्तौ, बुद्धशुक्रयो वक्रादि ज्ञानम्, ग्रहाणां कालांशज्ञानम्, दृक्कर्मशरयोः ज्ञानं विस्तृतरूपेणात्र विवेचितम्।

10. शृङ्गोन्नतिवासना –

अत्र षड्श्लोकेषु सूक्ष्मरूपेणाचार्येण चन्द्रशुक्लाङगुलस्य हेतुत्वं प्रतिपादयनुक्तम्। यथा-

तरणिकिरणसङ्गादेष पीयूषपिण्डो दिनकरदिशिचन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चाकास्ति।
तदिततरदिशिबालाकुन्तलश्यामलश्रीर्घट इव निजमूर्तिच्छाययैवातपस्थः।।[1]

11. यन्त्राध्यायः –

अस्मिन्नध्यायेऽष्टपञ्चाशत् श्लोकेषु गोल-नाडीवलय-यष्टि-शङ्कु-घटी-चक्र-चाप-तुर्य-फलक-धीरेतेषां यन्त्राणां निर्माणप्रयोगयोः वर्णनं विस्तृतरूपेणाकुर्वन्। मूर्तामूर्तकालस्य ज्ञानं विना यन्त्रैः नैव भवितुं शक्यते। यथोक्तं भास्करेण –

दिनगतकालावयवा ज्ञातुमशक्या यतो विना यन्त्रैः।
वक्ष्ये यन्त्राणि ततः स्फुटानि संक्षेपतः कतिचित्।।[2]

12. ऋतुवर्णनम् –

अस्मिन्नध्याये पञ्चदशश्लोकेषु षड्ऋतुनां सुरम्यं मनोहारी काव्यात्मकं वर्णनं कृतमाचार्येण।

13. प्रश्नाध्यायः

अस्मिन्नध्याये चतुष्षष्टिश्लोकेषु प्रश्नानां तेषामुदाहरणाञ्च वर्णनं विस्तृतमस्ति अनेन ज्ञानं भवति यदाचार्यभास्कारस्य गोलज्ञानं हस्तामलकवदासीत्।

14. ज्योत्पत्तिः –

अत्रास्मिन्नध्याये कोणानां जीवाचापयोरानयनप्रकारान्तरं ज्या-कोटिज्यास्पर्शकोटि-स्पर्शछेदनकोटिछेदनादीनां त्रिकोणमितीयविषयाणां वर्णनमुपलभ्यते। एषां विवेचनं पञ्चविंशतिश्लोकेषु सन्ति।

*****

---

[1] सि.शि., गो.शृ.वा., श्लो. 1-6

[2] सि.शि., गो.शृ.वा., श्लो. 1

शास्त्रोक्त वृश्टिविमर्श

दुर्गेश कुमार शुक्ल
शोध छात्र, ज्योतिष विभाग
सं. वि. धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जान्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[1]

अन्न से प्राणियों का जीवन रहता है, अन्न पर्जन्य से पैदा होता है और पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है एवं यह यज्ञ कर्म से समुद्भुत है।

अतः इस सिद्धान्त से यही सिद्ध होता है कि कर्म समुद्भुत यज्ञ ही अन्न, जल आदि का और जीवमात्र के जीवन का हेतु है।

कृषि में सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण वृष्टि है। कहा भी गया है–

वृष्टिमूलाकृषिः सर्वा वृष्टिमूलं च जीवनम्।
तस्मादादौ प्रयत्नेन वृष्टि–ज्ञानं समाचरेत।।[2]

वसव्य, शर्मण्य, सपीती मस्त इन देवताओं के कारण वृष्टि होती है तथा अग्नि–वायु, सूर्य और सोम के द्वारा जल आकाश में जाता है, ठहरता है, स्थान से च्युत होता है और बरसता है। सोम रस आर्द्रभाग जल है। यह अग्नि के द्वारा ऊपर जाता है। यथा–

अग्निं वायुं रवि सोमं मन्मेह सम्भवत्याम्।
उत्थानं प्रत्युपस्थानं धर्षणं वर्षणं यतः।।[3]

वेद में भी कहा गया है–

समान मेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।।[4]

अर्थात् यह जल समान रूप में वर्तमान अहर्गण के द्वारा उपरा जाता है और नीचे आता है। तैत्तिरीय संहिता में भी इसी विज्ञान के उद्देश्य से यह कहा गया है–

"अग्निर्वा इतोवृष्टिमुदीरयति मरूतः सृष्टां नयन्ति।
यदा खलुवा असावादित्योन्यङ्रश्मिमिः पर्यावर्तते अथ वर्षति।।"[5]

अर्थात् यहाँ से अग्नि वृष्टि को ऊपर भेजता है और मरूत (पर्जन्य वायु) उत्पन्न हुई वृष्टि को लाता है। जब वह आदित्य किरणों द्वारा नीचे को पर्यावृत्त करता है तब वृष्टि होती है।

इस वृष्टि विज्ञान को जानने के लिए हमें निमित्त ज्ञान की आवश्यकता होती है। इन निमित्तशास्त्रों में वृष्टि के निमित्तों का बोध कराने वाला एक "वृष्टि विद्या बोधक निमित्तशास्त्र" भी है। इस शास्त्र में वृष्टि के निमित्त– भौम, आन्तरिक्ष, दिव्य और मिश्र इन चार भेदों में विभक्त हैं।

- भौम– देश, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग प्रभृति भौतिक चीजों के द्वारा वृष्टि ज्ञान को भौतिक निमित्त कहते हैं।
- आन्तरिक्ष– वायु, बादल, विद्युत, गर्जन, तर्जन, सन्ध्या, दिग्दाह, पतिसूर्य, तारा, कुण्डल, आँधी, गन्धर्व नगर, इन्द्रधनुष, वायुधारणा आदि से वर्षा के ज्ञान होने को आनतरिक्ष निमित्त कहते हैं।
- दिव्य– सूर्य, चन्द्रग्रहण, पुच्छलतारे, सूर्य के चिह्न, सप्तनाड़ी चक्र ग्रहों का उदयारत, संक्रान्ति आदि से वृष्टि के ज्ञान प्राप्त करने को दिव्यनिमित्त कहते हैं।
- मिश्र– कार्तिक के आश्विन तक के बारह महीनों के प्रत्येक दिनों के तथा विशेष रूप से अक्षयतृतीया आषाढ़पूर्णिमा, होलिका आदि के शकुनों तथा उपर्युक्त चिह्नों से वर्षा के ज्ञान करने को मिश्र निमित्त कहते हैं। इन निमित्तों में भौमनिमित्त की अपेक्षा आन्तरिक्ष निमित्त और आन्तरिक्ष की अपेक्षा दिव्य निमित्त इस तरह उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिक बलवान है क्योंकि भौमनिमित्त का फल बहुधा थोड़ी ही दूर तक, आन्तरिक्ष का फल एक जिले तक दिव्य निमित्त का फल एक प्रान्त तक और मिश्र निमित्त का फल सर्वत्र होता है। इनमें प्रायः भौमनिमित्तों से सद्योवृष्टि का ज्ञान किया जाता है।

वायु, बादल, बिजली, गर्जना और वृष्टि ये गर्भ के पाँच रूप हैं। इन्हीं के महावात, झञ्झावात् आदि भेद अन्य हैं। जैसा कि कहा भी गया है–

गर्भरूपाणि वाताभ्रविद्युत्स्त्नितवृष्टयः।
एषां भेदा महावात्झञ्झावातादयः पृथक्।।[6]

वृष्टि के लिए सबसे महत्वपूर्ण वायु है। सामान्य तरीके से पूर्व की हवा बादल और वर्षा लाती है। पश्चिम की वर्षा नष्ट करती है। उत्तर की वर्षा पैदा करती है और दक्षिण की हवा केवल हवा ही चलाती है वृष्टि नहीं करती।

वायु तीन प्रकार की होती है– भावक, स्थापक और ज्ञापक। भावक वायु से बादल आदि पैदा होते हैं, दूसरी हवा से आकाश में बादल स्थित रहते हैं, तीसरी ज्ञापक नामक वायु से आगे आने वाली वृष्टि का पहले ही से ज्ञान हो जाता है। इनमें प्रथम भावक नामक वायु तत्काल या कालान्तर में भी वृष्टि कर दिया करता है। मधुसूदन ओझा जी ने भी कहा है–

वातस्त्रिधा भावकश्च स्थापको ज्ञापकस्तथा।
अभ्राद्युत्पादयेपाद्यो दिवि संचारयेत् परः।।
ज्ञापको भाविनी वृष्टि पूर्वमेव निवेदयेत्।
आद्यस्तु वृष्टिं तत्काले कुर्यात्कालांतेऽपिं वा।।[7]

मेघ गर्भरूप के पाँचों भेदों में से दूसरा भेद है। मेघ की स्थिति चार प्रकार की होती है– अभ्र, बादल, घन और घटा। इनमें आकाश के अन्दर फैलने वाला अभ्र कहलाता है। घन के टुकड़ों को बादल कहते हैं। फैले हुए खण्ड को घन कहते हैं और खण्ड–खण्ड न हो और एक ही रूप में फैले हुए हों तो इन्हें घटा के नाम से पुकारते हैं।

मेघ चार प्रकार के होते हैं– नाग, पर्वत, वृषभ और अर्बुद। इन चारों का जल ही एक कारण है। शीतऋतु में दिग्गज जाति के मेघों से हिम की वर्षा होती है। पुष्कर, आवर्त, संवर्त और द्रोण ये मेघ की जातियाँ हैं। कहा भी है–

हिमवृष्टिन्तु कुर्वंति शीलकाले हि दिग्गजाः।
पुष्करावर्तसंवर्तद्रोणाः स्युर्मेघ जातयः।।[8]

कष्ट से जल देने वाला मेघ पुष्कर जाति का, निर्जल मेघ आर्वत जाति का अधिक जल वाला संवर्त जाति का और धान्य के योग्य बरसने वाला मेघ द्रोण जाति का होता है।

गर्भरूप का तीसरा भेद विद्युत है। पूर्व की बिजली से जल की वर्षा, अग्नि कोण की बिजली से जल का नाश, दक्षिण से कम जल और नैऋत्य की विद्युत से उभर अर्थात् धुंध छा जाती है। पश्चिम से उठी हुई बिजली अधिक जल और धान्य देने वाली होती है। वायव्य कोण की बिजली वायु पैदा करती है और उत्तर की बिजली से मेघ आता है। ईशानकोण की बिजली से शीघ्र ही मेघ आता है। कहा भी है–

ऐन्द्री जलप्रदा विद्युदाग्नेयी जलनाशिनी।
दक्षिणोत्था स्वल्पजला नैऋत्या डमरप्रदा।।[9]
प्रभूतजलदा सर्वसस्यदा पश्चिमोत्थिता।
वातं करोति वायव्या कौवेरी जलवर्षिणी।
शीघ्रवृष्टिकृदैशानी दिश्यं वैद्युतलक्षणम्।
यत्र देशे सुभिक्षं स्याद् विद्युत् तत्रैव गच्छति।[10]

इस प्रकार सब दिशाओं की बिजली की परीक्षा जाननी चाहिए। जिस देश में सुभिक्ष होता है बिजली उधर ही जाती है।

गर्भरूप का गर्जित (गर्जना) नाम का यह चौथा भेद है। आकाश से पैदा हुआ शब्द तीन कारण से होता है– मेघ से, वज्र से और वायु से। प्रातःकाल के समय की गर्जना सत्यवादी की सत्य होती है। इससे दो पहर के अन्दर अवश्य ही वर्षा होगी या वायु चलेगी। कादम्बिनी में भी कहा गया है–

आप्तभाषितवत् सत्यं प्रभाते देवगर्जितम्।
यामद्वपेन वर्षा वा वातो वा जायते ध्रुवम्।।[11]

वृष्टि गर्भरूप का यह अन्तिम पांचवा भेद है। कूर्मपुराण के उपरिभाग में लिखा है कि सूर्य की किरणों से पिया हुआ जल बादलों में ठहरता है और उससे समुद्र भरता है। यथा–

आदित्यरश्मिभिः पीतं जलमभ्रेषु तिष्ठति।
पुनः पतति तद् भूमौ पर्यन्ते तेन चार्णवाः।।[12]

इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराण में भी लिखा है कि तेज (सूर्य) सब भूतों (भौतिक वस्तुओं) से किरणों के द्वारा जल से लेता है समुद्र (पारमेष्ठय सोम समुद्र) के अम्भ नामक जल के योग से किरणों आप् नामक सांसारिक जल को ले जाती है। यथा–

तेजो हि सर्वभूतेभ्य आदत्ते रश्मिभिर्जलम्।
सामुद्रादम्भसो योगाद्रश्मयः प्रवहन्त्यप।।[13]

जल की चार अवस्थायें होती हैं– अम्भ, मरीची, मर और आप्। इनमें अम्भ जल पर मेष्ठी नामक सूर्य के उपर भाग में वाटवात्मक रूप से सूर्य की किरणों द्वारा आता रहता है। इसे आजकल 'हाईड्रोजन' कहते हैं। आप् नामक जल कहलाता है जिसे आजकल सब पीने आदि के काम में लेते हैं।

प्राचीन समय में इस विद्या के विद्वान उपर्युक्त निर्मित्तों के आधार पर सद्यः होने वाली एवं विलम्ब में होने वाली वर्षा का तथा इसी के आश्रय से सुर्भिक्ष, दुर्भिक्ष, महामारी आदि का भी बहुत समय पूर्व ही ज्ञान कर लिया करते थे कि अमुक–अमुक देशों में, अमुक–अमुक समय पर इतनी मात्रा में वर्षा होगी और इस प्रकार का सुर्भिक्ष, दुर्भिक्ष होगा। इतना ही नहीं बल्कि वे तो अवर्षा, अल्पवर्षा, अधिक वर्षा आदि दैवकोप की शान्ति के लिए ठीक–ठाक प्रबन्ध भी कर लिया करते थे।

आजकल के पाश्चात्य विद्वान जो कि हमारे चारों निमित्तों के कई पदार्थों में से केवल आन्तरिक्षनिमित्त के एक वायु के ही ज्ञान को (संभवतः वह भी पूरा नहीं) केवल सद्योवृष्टिमात्र बताने वाले एक भाग को जानने में पर्याप्त धन खर्च कर बैठते हैं। इनकी तरह हमारे प्राचीन नैमित्तिक दैवज्ञों को इतने अपव्यय करने की न आवश्यकता ही होती थी और न ही इतना परिश्रम उठाना पड़ता है। आजकल वृष्टि, सुर्भिक्ष, दुर्भिक्ष आदि का ज्ञान केवल पंचांग के आधार पर ही रह गया है।

संदर्भ

1. श्रीमद्भगवद्गीता 3/14
2. कृवि0 परा0 2/1
3. कादम्बिनी 1/7
4. ऋ0सं0 7/1/2/51
5. तै0 सं0 2/4/10
6. कादम्बिनी 3/4
7. कादम्बिनी 3 अ0 श्लो0 सं0 6–7
8. कादम्बिनी अ0 3/42
9. कादम्बिनी 3/75
10. कादम्बिनी अ0 3 श्लो0 सं0 76–77
11. कादम्बिनी अ0 3/94
12. कुर्मपुराण, उपरिभाग, 42, 40
13. ब्रह्माण्ड पुराण

*****

बौद्धन्याय की पृष्ठभूमि

प्रकाश रेग्मी
शोध छात्र, जैन, बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतवर्ष में बौद्धदर्शन का प्रारम्भ महात्मा बुद्ध के द्वारा हुआ है। यद्यपि बुद्ध ने विशेष रूप से धर्म का ही उपदेश दिया था, दर्शन का नहीं, फिर भी बुद्ध के बाद बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्ध वचनों के आधार पर दार्शनिक तत्त्वों को खोज निकाला।

मुख्यतः बौद्धधर्म के दो रूप हमें इतिहास के पृष्ठों में मिलते हैं–

(क) शुद्ध धार्मिक रूप (ख) दार्शनिक रूप

(क) शुद्ध धार्मिक रूप – जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों के रहस्योद्घाटन को अनावश्यक मानकर आचारमार्ग का ही प्रतिपादन किया गया है।

(ख) दार्शनिक रूप– जिसमें बौद्ध तत्त्व–विवेचकों ने बुद्ध की आचार शिक्षा के तह में रहने वाले सूक्ष्म सिद्धान्तों का तर्कनिष्णात् बुद्धि से गहरा अनुशीलन किया, तथा बौद्ध धर्म की दार्शनिक रूपरेखा को स्पष्ट कर दिखाया। कालान्तर में बौद्ध दर्शन प्रमुख चार सम्प्रदाय में विभाजित हुआ। योगाचार सम्प्रदाय के आचार्य दिङ्नाग ने वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, सम्प्रदाय का सम्मिलित रूप बौद्धन्याय की स्थापना की।

बौद्धन्याय– भारतवर्ष में बौद्ध दर्शन का अस्तित्त्व भगवान बुद्ध से लेकर ग्यारहवीं शदी के आरम्भ तक रहा जिसे प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक शेरवात्स्की ने समान कालों में विभाजित किया है। प्रथम काल–500 ई0 पूर्व से प्रथम शदी ई., द्वितीय काल प्रथम शदी से 500 ई0 तथा तृतीय काल– 500 ई0 से 11वीं शदी का प्रारम्भ तक निर्धारित किया गया है। शेरवात्स्की ने सम्पूर्ण बौद्धदर्शन के आधार पर विभाजित किया, किन्तु प्रस्तुत लेख में सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन न होकर मात्र न्याय शास्त्र लेखन अपेक्षित है।

अतः यह बौद्ध न्यायशास्त्र का नवीन विभाजन है।

1. **प्राग्दिङ्नाग**– पाँचवीं शदी के प्रारम्भ तक।
2. **दिङ्नाग एवं उनके सम्प्रदायवर्ती न्यायशास्त्र**–पाँचवीं शदी से ग्यारहवीं शदी तक।

प्राग्दिङ्नाग न्यायशास्त्र– दिङ्नाग के पूर्व सम्पूर्ण त्रिपिटक साहित्य में न्यायशास्त्र का निरूपण करने वाला एक भी स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, किन्तु त्रिपिटकों में कहीं–कहीं तक्की, तक्किक एवं विमंसी शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] जो तार्किक लोगों के परिचायक प्रतीत होती है। अभिधम्म के कथावत्थुपकरण में प्रतिज्ञा, उपनय, निग्रह का प्रयोग[2] तथा नागसेन रचित मिलिन्दपञ्ह ग्रन्थ में मिलिन्दराजा का नागसेन से वाद–प्रतिवाद एवं वसुबन्धु रचित अभिधर्मकोष में ज्ञान के दस प्रकार धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, संवृत्तिज्ञान, दुःखज्ञान, समुदायज्ञान, निरोधज्ञान, मार्गज्ञान, परिचित्तज्ञान, क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान आदि। इन सभी ज्ञान, शब्द एवं वाद–प्रतिवाद का न्यायशास्त्र के साथ पूर्व आचार्यों ने कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है, किन्तु आगे चलकर प्रत्यक्ष एवं अनुमान के रूप

में जो दो प्रमाण माने गये हैं, उनमें इन शब्द, वाद–प्रतिवाद एवं ज्ञानों का न्यायशास्त्र में समावेश है।[3] त्रिपिटक साहित्य के उत्तरवर्तीकाल द्वितीय शदी ई0 से पंचम शदी ई0 में नागार्जुन, असङ्ग, वसुबन्धु आदि प्रमुख बौद्ध दार्शनिक हुए जिन्होंने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर मौलिक चिन्तन किया, एवं भारतीय दर्शन को नयी दृष्टि प्रदान की इनके ग्रन्थों में बौद्धन्याय का यत्किञ्चित् उल्लेख तो हुआ है, किन्तु व्यवस्थित प्रतिपादन एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता है। बौद्धन्याय के प्रभावक आचार्यों में दिङनाग धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अचर्ट, प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित, कमलशील, दुर्वेकमित्र, ज्ञानश्रीमित, रत्नकीर्ति, मोक्षाकरगुप्त आदि आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। बौद्ध–न्यायशास्त्र के व्यवस्थापन का श्रेय आचार्य दिङ्नाग को जाता है और उन्हें बौद्धन्याय का पिता कहा जाता है। परमार्थतः बौद्ध न्यायशास्त्र का व्यवस्थापन दिङ्नाग से प्रारम्भ होता है। दिङ्नाग की प्रसिद्ध रचना प्रमाणसमुच्चय में प्रमाणशास्त्र का व्यवस्थित प्रतिपादन किया गया। दिङ्नाग के अनन्तर धर्मकीर्ति बौद्धन्याय के प्रमुख आचार्य हुए जिन्होंने प्रमाणसमुच्चय पर प्रमाणवार्तिक की रचना की जो स्वतंत्र रूप में है। धर्मकीर्ति के अनन्तर धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के प्रमाणग्रंथों के दार्शनिक पक्ष को सर्वप्रथम व्यवस्थित एवं तार्किक शैली में प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रमाणिविनिश्चय एवं न्यायबिन्दु ग्रन्थों की विस्तृत टीका की है, अर्चट ने भी धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का टीका किया, टीकाकारों में अर्चट का महत्वपूर्ण स्थान है।

प्रज्ञाकरगुप्त की टीका, शान्तरक्षित तत्त्वसंग्रह, दुर्वेकमिश्र की धर्मोत्तरप्रदीप, ज्ञानश्रीमित्र की निबन्धावली एवं रत्नकीर्ति की अपोहसिद्धि आदि ग्रंथ भी बौद्ध न्यायशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते है।

(1) बौद्धन्याय में प्रमाण दो प्रकार का माना गया है– प्रत्यक्ष प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण।

(2) प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्पक तथा अनुमान प्रमाण सविकल्पक होता है, और प्रमाण को ज्ञानात्मक माना गया है।

(3) प्रत्यक्ष प्रमाण चार प्रकार का है– इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष एवं योगिप्रत्यक्ष।

(4) ज्ञान के चार प्रत्यय – आलम्बन प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय एवं समनन्तर प्रत्यय।

(5) अनुमान प्रमाण के दो भेद है– स्वार्थानुमान, परार्थानुमान।

बौद्धन्याय में वर्णित हेतु, हेतुभेद, हेत्वभास, प्रमाणफल आदि बौद्धन्याय के प्रमुख अंग माने गये है। उपर्युक्त वर्णित विषय के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने समय–समय पर बौद्धन्याय का अध्ययन अध्यापन एवं तत्सम्बन्धित ग्रन्थों का लेखन करके बौद्धन्याय को समृद्ध किया है। इनके अथक परिश्रम एवं बौद्धन्याय के प्रति पूर्णसमर्पण के कारण ही बौद्धन्याय को भारतवर्ष में ही नहीं अपितु तिब्बत, वर्मा आदि देशों में भी ख्याति प्राप्त हुई।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. बौद्ध दर्शन में प्रमाण–मीमांसा पृ0 6 राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर– डा0 धर्मचन्द्र जैन
2. कथावत्थुप्रकरण, पृ0–13।
3. अभिधर्मकोष, पृ– 7,2,4
4. भारतीय दर्शन सामान्य परिचय, विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक वाराणसी– पं0 व्रजवल्लभ द्विवेदी।

* * * * *

मत्स्य पुराण में प्रयाग तीर्थ

संगीता देवी
शोध छात्रा
संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वैदिक काल से ही पुराणों को भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू धर्म में अमूल्य निधि के रूप में शिरोधार्य किया गया है। पौराणिक साहित्य का भारत की सांस्कृतिक चेतना को अक्षुण्ण बनाये रखने में अभूतपूर्व योगदान रहा है। इनमें भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं के रोचक तथ्य प्राप्त होते हैं। अनेकों विद्वानों ने पुराणों की व्युत्पत्तियाँ भिन्न–भिन्न की हैं–

"पुरा नवं भवति" (जो प्राचीन होकर भी नया होता है) – 'यास्क' ने पुराण शब्द की व्युत्पत्ति अपनी ग्रन्थ निरूक्त में की है।

ब्रह्माण्ड पुराण – "पुरा एतत् अभूत" पुराण वे ग्रन्थ हैं प्राचीन युगों के मन्वन्तरों, कल्पों के विवरण प्रस्तुत किये गये हैं। किन्तु पुराण के लक्षण के अभाव में पुराण का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता है–

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।। (विष्णु पुराण)

प्राचीन ग्रन्थों, वेदों तथा यहाँ तक पुराणों में भी महापुराणों की संख्या 18 स्वीकृत हैं।

संस्कृत साहित्य के पौराणिक वाङ्मय में स्वीकृत अट्ठारह महापुराणों में मत्स्य पुराण का विशिष्ट स्थान है यह एक ऐतिहासिक पुराण है तथा 291 अध्यायों एवं 15000 श्लोकों में निबद्ध यह बृहद् पुराण है। इसमें प्राचीन सांस्कृतिक परम्परायें सुरक्षित हैं। धार्मिक दृष्टि से इसका अतुलनीय महत्त्व है। इस पुराण में सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि विषयों के साथ–साथ तीर्थो का भी महनीय वर्णन प्राप्त होता है। मत्स्य पुराण में तीर्थो का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। सर्वप्रथम हम तीर्थों के महत्व पर विचार करेंगे कि तीर्थ का हमारे भारतीय संस्कृति में क्या महत्त्व है। पुराणों में तीर्थों की महिमा का विपुल वर्णन प्राप्त होता है।

तीर्थों का महत्त्व निर्धन वर्ग के लिये विशेष रूप से हैं जहाँ वैभव से युक्त व्यक्ति याज्ञिक कार्यों द्वारा उत्तम फल प्राप्त करते हैं यह यज्ञ निर्धनों के लिये दुष्कर है वह तीर्थों के माध्यम से ही उन फलों को प्राप्त करता है। विष्णु पुराण में वर्णित है कि द्वारका का दर्शन करने से सभी पापों का नाश हो जाता है।

तदतीव महापुण्यं सर्वपातकनाशनम् (वि0पु0 5/38/11)

प्रयाग तीर्थ के विषय में मत्स्य पुराण में वर्णित है कि कम्बल और अश्वतर के निवास स्थल जल के पान से सभी पापों की निवृत्ति होती है–

कम्बलाश्वतरौ नागौ विपुले यमुनातटे।
तत्र स्नात्वा च पीत्त्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते।। (मत्स्य पुराण 106/27)

तीर्थाधिकारी कौन होता है? क्या सम्पूर्ण व्यक्ति तीर्थ कर सकते हैं या कुछ व्यक्ति इसका उदाहरण महाभारत में प्राप्त होता है–

ब्राह्मणा क्षत्रिया वैश्याः शुद्रा वा राजसत्तम्।
न वै यौनौ प्रजायन्ते स्नातास्तीर्थे महात्मनः।। (महाभारत वनपर्व 82 / 30 / 31)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीर्थ में स्थान करते हैं तत्पश्चात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। तीर्थ करने का फल ये विशेष प्रयोजन हैं तीर्थ करने का। तीर्थ के महात्म्य से प्राप्त फल को अग्निपुराण में कुछ इस प्रकार बताया गया है–

महात्म्यं सर्वतीर्थानां वक्ष्ये यद्भुवितमुक्तिपदम्!।। (अग्निपुराण 109 / 1)

तीर्थ इस लोक में भोग अथवा परलोक में मोक्ष प्रदान करता है।

दशतीर्थ सहस्त्राणि षष्टिकोट्यस्त तथा पराः।
तेषां सान्निध्यमत्रैव ततस्तु कुरुनन्दन।। (अग्निपुराण 106 / 23)

सम्पूर्ण पुराणों में तीर्थो की संख्या तथा विधियाँ भिन्न–भिन्न हैं प्रत्येक पुराण भिन्न–भिन्न तीर्थों का उल्लेख करता है वहीं मत्स्यपुराण इस पृथ्वी पर साठ करोड़ दस सहस्त्र तीर्थ मानता है परन्तु उन सब तीर्थों को प्रयाग तीर्थ में ही समाहित करता है यह पुराण प्रयाग तीर्थ का विशेष रूप से उल्लेख करता है।

प्रयाग तीर्थ

भारतीय संस्कृति में तीर्थों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है इसी कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष में बड़ी या छोटी कोई भी मूर्ति हो तीर्थ रूप में ही स्वीकृत या परिगणित हैं। मत्स्यपुराण में इन बातों का वृहद् रूप से वर्णन प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण में तीर्थों की संख्या साठ करोड़ दस सहस्त्र स्वीकृत हैं। इन तीर्थों में प्रयाग तीर्थ का वर्णन तथा इसकी महत्ता का प्रतिपादन मत्स्यपुराण शब्दशः करता है। मत्स्यपुराण के लगभग दस अध्यायों में प्रयाग तीर्थ की महत्ता एवं सम्पूर्ण तीर्थों का प्रयाग में होना यह सम्पूर्ण तथ्य मत्स्यपुराण में वर्णित है। मत्स्यपुराण में प्रयाग की महिमा कुछ इस प्रकार से वर्णित है–

दर्शनात्तस्थतीर्थस्य नामसङ्कीर्त्तनादपि।
मुत्तिकालम्भनाद्वापि नरः पापात्प्रमुच्यते।। (मत्स्य पुराण 102 / 11)

अर्थात् उस प्रयाग तीर्थ के दर्शन से नाम के स्मरण से अथवा शरीर पर वहाँ की मृत्तिका लगने से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। प्रयाग तीर्थ की महिमा का प्रतिपादन तथा इसका निवास स्थान सम्पूर्ण तथ्यों का वर्णन अग्निपुराण में भी प्राप्त होता है–

गंङ्गायमुनयोर्मध्य पृथिव्या जघनं स्मृतम्।
प्रयागं जघनस्यान्तरुपस्थमृषयो विदुः।। (अग्निपुराण 111 / 4)

अग्निपुराण में प्रयाग तीर्थ के विषय में यह भी कहा गया है कि प्रयाग तीर्थ की स्तुति करने तथा नाम संकीर्तन करने से भी तथा इसकी मिट्टी शरीर पर लगने मात्र से मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

मत्स्यपुराण में मार्कण्डेय जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे युधिष्ठिर "प्रयाग जी का पुण्य मनुष्यों का महादुर्लभ है राजेन्द्र देवता, दैत्य, गन्धर्व, ऋषि, सिद्ध, चारण यह सम्पूर्ण लोग प्रयाग जी का स्पर्श कर स्वर्ग को प्राप्त हुये–

"दुष्प्राप्यं मानुषैः पुण्यं प्रयागन्तुयुधिष्ठिर
देवदानवगन्धर्वा ऋषयः सिद्ध चारणाः
युधिष्ठिर तदुपरस्टश्यराजेन्द्र स्वर्गलोकममुपासते।।" (मत्स्यपुराण 103/19)

मत्स्यपुराण में प्रयाग तीर्थ को विस्तार रूप से वर्णित किया गया है। प्रयाग तीर्थ इस पुराण का सर्वोत्कृष्ट तीर्थ है। मत्स्यपुराण में वर्णित है कि प्रयाग तीर्थ में सम्पूर्ण तीर्थ समाहित है--

मैनिषंपुष्करञ्चैव गोतीर्थसिन्धुसागरम्।
गयाचचैत्रकंचैव गङ्गासागरमेवच।।
एतेचान्येबहवो येचपुस्याः शिलोच्ययाः
दशतीर्थसहस्त्राणि त्रिशत्कोट्यस्तथापराः
प्रयागेसंस्थितानित्यमेवानाहुर्मनीषिणः।। (109/1/2/3)

अर्थात् पुष्कर, गोतीर्थ, सिन्धुसागर, गयाजी, चैत्रक तीर्थ और गङ्गासागर यह सम्पूर्ण अन्य जो पवित्र तीर्थ है वह सम्पूर्ण दश हजार तीर्थ और तीस करोड़ अन्य तीर्थ यह सब मिले हुये प्रयाग जी में रहते हैं।

अग्निपुराण में प्रयाग तीर्थ में स्थित अन्य उपतीर्थों का भी वर्णन प्राप्त होता है-- कम्बल, अश्वतर, भोगवती, हंसप्रपतन, उर्वशीपुलिन, संध्यावट, कोटितीर्थ, अश्वमेध, गङ्गायमुन, मानस तीर्थ व वासरक तीर्थ। इन तीर्थों में स्थान करने का उतना ही फल होता है जितना की करोड़ों गायों के दान करने से होता है--

प्रयागं सप्रतिष्ठानं कम्बलाश्वतरावुभौ।
तीर्थं भोगवती चैव वेदी प्रोक्ता प्रजायते।। (अ०पु० 111/5)
वासुकेर्भोगवत्यत्र हंसप्रपतनं परम्।
गवां कोटिप्रदानाद्यलयहं स्नानस्य तत्फलम्।। (अ०पु० 111/10)

इन सब तीर्थों में प्रयाग तीर्थ महत्त्वपूर्ण तीर्थ है। यह सम्पूर्ण तीर्थ प्रयोग की महत्ता को दर्शाते हैं। इन्हीं तीर्थों का पुण्य प्राप्त करने मनुष्य जाति कुम्भ में स्नान करने प्रयाग तीर्थ पर जाते हैं करोड़ों अरबों की संख्या में वहाँ उपस्थित होते हैं।

इस प्रकार प्रयाग तीर्थ सम्पूर्ण तीर्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मत्स्यपुराण इसका विशेषतः वर्णन करता है। मत्स्यपुराण में प्रयाग तीर्थ का महत्त्व, प्राकृतिक वर्णन, उसकी महिमा आदि का विस्तृत वर्णन करता है। वस्तुतः प्रयाग तीर्थ सम्पूर्ण तीर्थों में महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट है सम्पूर्ण तीर्थों का निवास स्थान है, यहाँ आने के बाद व्यक्ति सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

संदर्भित ग्रन्थ

1. अग्निपुराण – आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
2. मत्स्यपुराण – पं. कालीचरण गौड़ एवं बस्तोरामजी, चौखम्बा विद्यापीठ, वाराणसी।
3. विष्णुपुराण – लाल, श्रीगुप्त मुनि, गीता प्रेस, गोरखपुर।
4. महाभारत – वेदव्यास प्रणीत।

*****

वेद में मानव मूल्य की अवधारणा

एकात्मदेव
शोधच्छात्र (कनिष्ठ शोध अध्येता),
संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मनुष्य जगन्नियन्ता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। सभी मानवों का समुचित एवं पूर्ण विकास हो, इसके लिए समाज मानव–मूल्य की बात करता है। मानव मूल्य के संरक्षणार्थ 'मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा' 10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्तराष्ट्र का चिन्तन और विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। विश्व के प्राचीनतम सांस्कृतिक देश भारतवर्ष की महान् एवं अगाध ज्ञाननिधि 'वेद' की प्राचीनता निर्विवाद है। इसमें सन्देह नहीं, कि वेद मानवमात्र के लिए देश, काल और स्थान की अपेक्षा के बिना आदेश और उपदेश करते हैं, जिससे उसका सर्वाधिक उत्कर्ष हो सके। इसीलिए भारतीय परम्परा वेद को परमप्रमाण मानती है। वैदिक मन्त्र की विशुद्धता और तद्रूपता उनके महत्त्व को बढ़ा देती है। ऋषि–प्रज्ञा को इसका समस्त श्रेय जाता है, जिससे वेद को यथावत् सुरक्षित रखा है। **'सर्वं वेदात्प्रसिध्यति', 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'**[1] जैसे प्रसिद्ध वचनों से स्पष्ट होता है कि ज्ञानविज्ञान के सभी पक्षों का आदिस्रोत वैदिक मन्त्र हैं। इसी दृष्टिकोण से इस लेख में यह जानने का प्रयास किया जा रहा है कि आधुनिक विचार मानवाधिकार के विषय में प्राचीनतम ग्रन्थ वेदसंहिता ने क्या मानक नियम स्थापित किये हैं? वैदिक मन्त्रों के समालोचनात्मक विश्लेषण द्वारा ही तत्सम्बद्ध सिद्धान्तों का अन्वेषण किया जा सकता है।

मानव–मूल्य व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व इन पाँचों स्तर पर अपना प्रभाव डालते हैं। इन सम्बन्ध में वेद का जो एक अपर दृष्टिकोण उभर कर सामने आता है, वह है कि 'अधिकार केवल कर्तव्य से उपजते हैं'। ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मन्त्र में वधू को आशीष दिया गया है कि 'पतिगृहसाम्राज्ञी की भांति रहो, श्वसुर, सास, ननद और देवर पर शासन करो।' साथ ही वह मन्त्र उल्लेख्य है, जिसमें वधू को पति के घर में श्वसुर और अन्य सम्बन्धियों की निष्ठापूर्वक सेवा करने का आदेश दिया गया है। जीवन में लक्ष्यप्राप्ति के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण वैदिक ऋषि के नीतिविश्लेषण का प्रधान तत्त्व है। यज्ञानुष्ठान, प्रार्थना, प्रयत्न, परिश्रम पर बल देने वाले निर्देशों को कर्त्तव्य विधान का ही प्रतिरूप माना जाना चाहिए। ऋभुगण अपने उत्तम कर्मों के कारण देव बने और इसीलिए इन्द्र ने उन्हें अपना मित्र बनाया। इन्द्र उत्तम कर्त्तव्यशक्ति से युक्त होकर जन्मे थे। उन्होंने श्रेष्ठ कर्मों को प्रथम किया, इसीलिए वे प्रशंसनीय हुए। जिस प्रकार इन्द्र आदि देवता उत्तम कर्मों के कारण श्रेष्ठ हुए, उसी प्रकार उत्तम और शुभ कर्म मनुष्यों के लिए भी कर्त्तव्य हैं– यही ऋक्संहिता का सन्देश है। जो प्रजा का हित करता है वह 'मानुष' है और जो प्रजा का अहित करता है वह 'अमानुष' है। मनुष्य क्या करे और क्या न करे?इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालने वाले वैदिक ऋषियों ने मानव–मूल्य की सबल भूमिका के रूप में कर्मों की महत्ता स्थापित की है।

---

[1] मनुस्मृति

मानव–मूल्यपरक वैदिक दृष्टिकोण का एक तृतीय महत्त्वपूर्ण पक्ष है–'सामनस्य'। अथर्ववेदीय 'सामनस्य सूक्त' पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर अविद्वेष और समानभाव की बात करता है। यहाँ तक कि निर्देश दिया गया है कि भाई भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से द्वेष न करे। समान व्रत और समान गति वाले होकर परस्पर भद्रतापूर्ण वाणी का व्यवहार करे। इसी प्रकार का सामनस्य दिव्यशक्तियों के साथ भी चाहा गया है। मनुष्य का दूसरे व्यापक स्तरों से सम्बन्ध, कर्त्तव्य विधान और सामनस्य जैसे व्यापक दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में वैदिक ऋषि ने मनुष्य के मौलिक अधिकारों का विधान किया है।

मनुष्य की सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार ये मानवजीवन की ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनके बिना सामान्य तथा कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकता।' परन्तु मानवाधिकार का सामान्य अभिप्राय उन अधिकारों से है, जो मनुष्य मात्र के लिए उनके उत्कर्ष हेतु समान रूप से प्राप्तव्य है। वैदिक ऋषि–प्रज्ञा ने दिव्यशक्तियों की इस भावना की बहुधा प्रशंसा की है कि वे 'विश्व मानुष' या 'विश्व जीव' के प्रति बिना भेदभाव के कार्यरत है। सूर्य से पूर्व प्रकाशित होकर युवति उषा 'सब जीवों' को सर्वत्र संचार के लिए प्रेरित करती है। इन्द्र के द्वारा दिए गए उत्तम धन को 'सभी मनुष्य' जानते हैं। विष्णुदेव ने निवास के लिए मनुष्यों को देने की इच्छा से पृथ्वी पर विचक्रमण किया। पवमान सोम सम्पूर्ण विश्व को श्रेष्ठ (आर्य) बनाना चाहते हैं या सम्पूर्ण विश्व को आर्य करने वाले हैं। स्पष्ट है कि सभी देव मानवमात्र के विकास या सुख सुविधा के लिए यत्नशील हैं। यही मानवाधिकार का वैदिक तात्पर्य है। ऋग्वेद में सांकेतिक रूप से अभिव्यक्त हुए मानवाधिकारपरक कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषण ऋग्वेद में मानवाधिकार की अवधारणा के अध्ययन के उद्देश्य से यहाँ अभिप्रेत है।

मानवाधिकार की अवधारणा के प्रेरक तत्त्व

1. **वैश्विक एकता**– वेद में किसी स्थान विशेष की विशेष चर्चा न करते हुए सम्पूर्ण विश्व या ब्रह्माण्ड की बात की गयी है। वैदिक दृष्टिकोण में यह स्पष्ट किया गया है कि संसार में लोग विविध भाषाओं या बोलियों और विविध धर्मों या व्यवसायों वाले होंगे– पर पृथिवी तो सबको बिना भेदभाव या वर्गभेद के धारण करेगी जैसे कि एक घर में रहने वाले हों। वह तो सब मानवों के लिए है। इसी प्रकार यजुर्वेद ने परमात्मा की दृष्टि में विश्व को बिना विभाजन वाला एक 'नीड' कहा है–

   यत्र विश्व भवत्येकनीडम् समस्तम्[1]

   जैसे घोसलें में कोई विभाजन रेखा नहीं होती, वैसे ही यह विश्व ब्रह्म की दृष्टि में एक इकाई है, जिसमें देश–प्रदेश के विभागों का कोई औचित्य नहीं है। इन्द्र स्थावर–जंगम सभी का राजा है। वे सभी मनुष्यों के शासक, पालक और प्रकाशक हैं। जैसे इन्द्रदेव वैसे ही सामान्यतया समस्त देवमण्डल सभी प्राणियों के हितकल्याण में प्रवृत्त देखी जा सकती है। तात्पर्य है कि प्राकृतिक शक्तियाँ स्वकार्य–नियोजन में समस्त विश्व की एकता को मूलाधार बनाती है। वैदिक देवताओं का कार्यक्षेत्र विश्वव्यापी है।

---

[1] यजुर्वेद

2. **मानवीय समानता**–द्युलोक को पिता और पृथिवी को माता बनाने वाले वैदिक स्तोता ने अपने को विशाल विश्व का अधिवासी माना है। वैदिक समाज समत्व का पोषक था। आर्यजन के सांस्कृतिक जीवन में एकरूपता थी क्योंकि सभी व्यक्तियों को समानतया समाज का आवश्यक अंग माना जाता था। इसीलिए वेदों में कहीं भी एक धर्म या समुदाय को ध्यान में रखकर उपदेश नहीं दिया गया है अपितु सम्पूर्ण मानवमात्र के हितसाधन के लिए उपदेश है। समाज या समूह की सर्वांगीण उन्नति के मूल–कारण के रूप में मानवीय समानता का प्रतिपादन किया गया है। समत्व–भावना से ओतप्रोत चित्त स्वार्थ से शून्य और परार्थ के प्रति निष्ठावान् होता है, इसलिए भावात्मक एकता को आत्मसाक्षात्कार का प्रथम सोपान माना गया है– उपनिषद् दर्शन में इसी तथ्य का विस्तार हुआ है।

ऋक्सहिता का 'संज्ञानम्' नामक सूक्त में सामाजिक एकता का सुन्दर उपदेश है– 'जैसे दिव्यशक्तियों से युक्त देव परस्पर अविरोध भाव से अपने–अपने कार्यों का करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी समष्टि भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त हो, एकमत से रहो और परस्पर सद्भाव में रत अनुपम रहो। यह सूक्त वेद के समतापूर्ण दृष्टिकोण का अनुपम उदाहरण है। इसमें सब जन की क्रियाओं, गीत, विचारों एवं मनबुद्धि के पूर्ण सामंजस्य की प्रेरणा दी गयी है। यह सूक्त 'सामनस्य' नाम से अथर्ववेद–संहिता में भी मिलता है। समता भावना के माहात्म्य के प्रकाशक वैदिक विचार जहाँ एक ओर समाज की उन्नति के लिए अपेक्षित आधार के अभिव्यंजक हैं, वहीं वे मानवाधिकार का स्वरूप भी उपन्यस्त करते हैं।

ऋग्वेदसंहिता के दो मन्त्रों में मरुत को नर, मर्य, मर्त आदि विशेषणों के आधार पर मनुष्यवाची मानना, स्पष्टतः मानवीय समानता के रूप में ग्राह्य है– 'सब मनुष्य समान है, उनमें कोई बड़ा–छोटा नहीं, कोई मध्यम भी नहीं, ये अपनी शक्ति से ऊपर उठते हैं, ये महत्त्वाकांक्षा से बढ़ते हैं, ये जन्म से कुलीन, दिव्य, मर्त्य हैं, इन सब मनुष्यों में कोई न तो जन्म से बड़ा है और न कोई छोटा, सब सम्यक् मातृभाव को धारण करते हुए ऐश्वर्य और उन्नति के लिए मिलकर प्रयत्न करते और आगे बढ़ते हैं। जब सब समान हैं तो भेदभाव कैसा? वेद की दृष्टि में सभी स्त्री–पुरुष 'अमृतस्य पुत्राः' है। वेद की संस्तुति है कि बालक, तरुण, बड़े और जो विश्व के कई भागों में मानवीय भेदभाव का आधार है, वेद में नहीं प्राप्त होती है। गण और कर्म के अनुसार निर्धारित की गई वर्ण–व्यवस्था के कतिपय संकेत वेद में अवश्य उपलब्ध होते हैं। गुण और कर्म के अनुसार निर्धारित की गई वर्ण–व्यवस्था के कतिपय संकेत वेद में अवश्य उपलब्ध होते हैं। वैदिक परम्परा में बलपूर्वक स्थापित की गई सामाजिक और मानवीय समानता उसे मानवाधिकार की मान्यता प्रदान करती है।

3. **विश्वबंधुत्व–भावना**– विश्वबन्धुत्व–भावना की चर्चा जिस रूप में वेद में की गई है, वह विश्व वाङ्मय के लिए एक अनुपम उदाहरण है। विश्वव्यापी आधार पर चिन्तन करने के कारण विश्वबन्धुता की उदात्त भावना से ओतप्रोत वैदिक मन्त्रों में मानवमात्र के लिए सौहार्द, मित्रता, समानता, संगठन और साहाय्य की भावनाओं का पाया जाना स्वाभाविक है। ऋग्वेद में ही इस विषय के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त 'संज्ञानम्' इसका सर्वोच्च प्रतिपादक है। एक अन्य मन्त्र में सभी जन के परस्पर संगत

होकर, सहमतिपूर्वक, बिना किसी द्वेषभाव के, कर्त्तव्यकर्मों और प्रकृति के नियमों के लिए कहा गया है– 'एक महत्कार्य देवों के अनुशासन को भंग नहीं करते और हिंसा न करते हुए धनों के साथ संगत होते हैं।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।1।।
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।।2।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।3।।
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।।4।।
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।।5।।
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
समयञ्चोग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।।6।।
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु।।7।।

वेद में समस्त प्राणियों को मित्रवत् देखने की कामना की गयी है। प्राणिमात्र के लिए मैत्रीभाव या मित्र–दृष्टि अपेक्षित है। ऋग्वैदिक ऋषि के अनुसार जो मित्र को छोड़ देता है, उसे वाणी का कोई फल नहीं मिलता, वह जो सुनता है व्यर्थ ही सुनता है, वह सत्कार्य का मार्ग नहीं जानता है। यजुर्वेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र है, जिसमें कहा गया है कि 'सब प्राणिवर्ग मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब प्राणी परस्पर एक–दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।' मैत्री या विश्वबन्धुता की भावना मानवाधिकार की अवधारणा के प्रेरक तत्त्व हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सामान्य मानवाधिकार

1. **सामाजिक न्याय का अधिकार–** जब व्यक्ति के लिए समताभावना और उदात्तगुणों का निर्देश है, तब प्रत्येक मानव को दूसरे से होने वाले अनाचार या अन्याय के प्रतिकार का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है। वेद में 'ऋत' को सम्पूर्ण व्यवस्था का मूल तत्त्व निर्धारित किया है। इसलिए जो राजा अर्थात् अधिकारी न्यायकर्ता है, उसके प्रति कामना की गयी है कि "सत्य से असत्य को पृथक् करके मेरे राष्ट्र का आधिपत्य प्राप्त करो।" राजा को सदा सत्य का साथ देना चाहिए।

किसी के प्रति भी वांछनीय न्याय को दबाया नहीं जाना चाहिए। इन्द्र से एक प्रार्थना में कहा गया है कि "हे उत्तम रीति से रक्षा करने वाले तुम, प्राणियों की हिंसा करने के लिए नहीं हो।" उचित न्याय सभी का अधिकार है। किसी भी स्थिति में नियमों को तोड़ने वाले या उनके साथ खिलवाड़ करने वाले दण्ड से वंचित नहीं रहने चाहिए। पवमान सोम के एक मन्त्र में

प्रतिपादित है कि 'ऋतु का संरक्षक, उत्तम कर्म करने वाला यह सोम किसी दुष्ट से दबने वाला नहीं है। कर्म करने वालों में जो नियम रहित रीति से कर्म करते हैं, उन अप्रिय करने वालों का वह ताड़न करता है। अग्निदेव उसे तीन बार दण्डित करते हुए बाँधते हैं, जो 'अनृत' से 'ऋत' को नष्ट करता है। ऋत के नियामक देवता वरुण का नैविक देव है, जो सदा अपराधियों को दण्डित करने के लिए अपने पाशों से बाँध लेते हैं। अतएव उच्चतम स्तर के नैतिक आदर्शों की स्थापना करते हुए वैदिक ऋषि ने न्याय को समुचित महत्त्व दिया है।

2. **सुरक्षित, शान्तिमय और सुखी जीवन का अधिकार**—वैदिक ऋषि की दृष्टि में सुरक्षा और सामान्य सुख सभी मानवों का अधिकार है। दूसरों के अपराध और पापों से सदाचारी जन के जीवन की रक्षा करना शासक का कर्त्तव्य है। सब ओर से अभय होना चाहिए। द्वेष करने वाले, पापी, अपराधी, राक्षस आदि असामाजिक तत्त्वों के प्रतिकार के लिए देवता सन्नद्ध दिखाये गये हैं। ऋग्वैदिक आर्यों ने सुख और शान्ति को जीवन का मुख्य ध्येय माना था। शिव, स्वस्ति, भद्र, शम, सौभाग्य, कल्याण, श्रेयस्, शर्म, मय आदि शब्दों द्वारा सुख, कल्याण, प्रसन्नता और शान्ति की वैदिक मन्त्रों में कामना की गयी है। सुखमय और शान्तिपूर्ण जीवन जन्म लेने वाले प्रत्येक मनुष्य का प्रथम अधिकार है। इस अभिप्राय से सभी देवताओं से 'भद्र' की याचना की गयी है।

शम् अथवा शान्ति केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही काम्य नहीं है। वैदिक ऋषि भली–भाँति जानते हैं कि मानव–जीवन के अन्य व्यापक स्तर परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व भी उसे प्रभावित करते हैं अतएव उन स्तरों पर भी शान्तिमय वातावरण होना चाहिए। शम् तो प्राणीमात्र का काम्य है– द्विपदों और चतुष्पदों में शान्ति हो। सुकर्मशील जन के सुकर्मों का उद्देश्य एकमात्र 'शान्ति' होना चाहिए। सत्यता और अनुशासन शान्ति के आधार हैं, इसीलिए एक मन्त्र मेंकथन है कि 'हमारा सत्य और संयम हमें शान्ति करे।' सत्य का पालन करने वाले ही शान्ति को स्थापित कर सकते हैं। न केवल पृथिवी अपितु अन्तरिक्ष, द्युलोक और सर्वत्र शान्ति की कामना प्रसिद्ध शान्तिमन्त्र का विषय है। शान्ति स्थापना के लिए अधिकारी शासक को सदैव अशान्ति फैलाने वाले चोर, कपटी, पापी, दुष्ट को विनष्ट करने की चर्चा अनेकशः मन्त्रों में की गयी है।

3. **शिक्षा एवं ज्ञानार्जन विषयक अधिकार**—जन्मने वाले प्रत्येक मानव का अधिकार अपनी बुद्धि का विकास करने के लिए शिक्षाप्राप्ति का है। माता उसकी प्रथम गुरु है, जो उसमें संस्कार डालती है। पिता उसका श्रेष्ठ गुरु है, जो उसको शिक्षित बनाने की आधारशिला रखता है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक बालक को योग्य गुरु से विद्या प्राप्त करने का अधिकार है। जाननेवाला कोई भी आचार्य न जाननेवाले, किन्तु जिज्ञासु शिष्य को अवश्य ही शिक्षित करे– वेद की निश्चित मान्यता है। पूषन् देवता से कहा गया है कि 'हे पूषन्! जो यह ऐसा ही है ऐसा कहता है और जो योग्य उपदेश देता है, उस विद्वान् के पास हमें ले चलो।' सृष्टि की समुचित गति के लिए शिक्षा और ज्ञानार्जन की महत्ता सभी के लिए है इसलिए वेद का उद्‌घोष है, 'आगे आगे जाने वाला विद्वान् ही मुझे उत्तम मार्ग से सरलतापूर्वक ले जाएगा।' आज मानवाधिकार के रूप में 'शिक्षा' को विशेष स्थान दिया जाता है किन्तु अभी भी कितने ही इस अधिकार से वंचित रह जाते हैं; जिसके अनेक कारण हैं किन्तु वैदिक दृष्टि में कोई भी कारण मानव को इस अधिकार से वंचित नहीं रख सकता है।

शिक्षा विकास का साधन है और विकासोन्मुखता एवं उत्कर्ष–प्राप्ति से किसी भी मानव को सभ्य समाज में रोका नहीं जाना चाहिए क्योंकि विकास एवं उत्कर्ष मानवाधिकारी है। महत् सौभाग्य के लिए उठो, जीवन में आगे ही आगे आरोहण करो, रुको नहीं, थको नहीं आगे बढ़ो, विवरण करो– जैसे उत्कर्ष के प्रति प्रेरित करने वाले मन्त्र वेदों में यत्र–तत्र सर्वत्र प्राप्त होते हैं। 'मेरे दायें हाथ में कर्म हैं, तो मेरे बायें हाथ में जय'– वेद का आदर्श है।

4. **स्वतन्त्रता का अधिकार**–निर्भयता और सुरक्षा से स्वतन्त्रता उपजाती है, जो मानव मात्र का एक विशेष अधिकार है।

'अभय' वेद का महत्तम सन्देश है। सभी वैदिक संहिताओं में 'स्वराज्यम्' पर व्यापक सामग्री उपलब्ध होती है। 'स्वराज्य' की चाह करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है और यदि स्वराज्य है तो उसकी सुरक्षा करना भी उसका कर्तव्य है। लोगों को स्वराज्य से वंचित करने का अधिकार किसी का नहीं है। ऋग्वेद में स्पष्ट आदेश है कि लोग अपना राजा स्वयं चुने। यजुर्वेद में ''जानराज्य'' शब्द का प्रयोग संकेत करता है कि यह स्वराज्य वस्तुतः जनता का राज्य है। राजा का वरण हो या कि निर्वाचन– यह तो निर्विवाद है कि वेद ने प्रजा के राज्य में होने वाले सर्वविध अधिकारों की अनिर्वाचता का संकेत किया है। निश्चय ही प्रजातन्त्र की आधुनिक धारणा का यह प्राचीनतम सन्दर्भ है।

इस सन्दर्भ में अधोलिखित मंत्र ध्यातव्य है–

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।2।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।3।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।4।।

मानव समुदाय में एक–दूसरे के प्रति मित्रता, कल्याणभावना, अविद्वेष और सुरक्षा की भावना राष्ट्र को पुष्ट करती है और ऐसे राष्ट्र विश्व को पुष्ट करते हैं। मानवाधिकारों का समुचित अनुपालन सर्वविध विकास और शान्ति का मार्ग उपन्यस्त करता है। कर्मशीलता, सदाचार और उदात्त चरित्र इसके आधार हैं– यह वैदिक दृष्टिकोण ने स्पष्ट किया है। कर्त्तव्यों को छोड़कर केवल अधिकारों की बात करना एकांकी है। समग्रता जीवन को परिपक्व करती है। आधुनिक युग में बहुशः चर्चित मावाधिकारों के समस्त आधारभूत विचार ऋग्वेद में सूत्ररूप में व्याख्यात किये गये हैं। अतः उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानवाधिकार की अवधारणा वैदिक ऋषि–प्रज्ञा के गहन बोध की संसूचक है, जिसमें अधिकारों के स्वरूप के साथ उनके आधारभूत सिद्धान्तों का भी अनुचिन्तन किया गया है।

*****

Vol. 1, No. 1, Tripathgā-2015

An International Refereed Research Journal is published bi-Annually by SUDHANSHU CHAUBEY, Faculty of SVDV, Banaras Hindu University, Varanasi-221 005, India. Articles and other contributions for possible publication are welcome views expressed in the Articles, Shorter Articles, Book Reviews and All other contributions published in this journal are those of the Respective authors and not necessarily reflect the views of the Tripathgā An International Refereed Research Journal.

Published by
Sudhanshu Chaubey
Faculty of SVDV, Banaras Hindu University
Varanasi-221 005, India

ISSN 2395-4280